Accredited with NAAC A Grade

12-B Status from UGC

Jain Nyay

BAJSCC301

CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

Accredited with NAAC A Grade

12-B Status from UGC

JAIN NYAY

(BAJSCC301)

REVIEW COMMITTEE

Prof. Dr. Manjula Jain
Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Vipin Jain
Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Amit Kansal
Associate Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Manoj Rana
Jt - Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

PROGRAMME COORDINATOR

Dr. Manjula Jain
Professor
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

BLOCK PREPARATION

Dr. Aditya Jain
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Secretarial Assistance and Composed By:
Mr. Namit Bhatnagar

COPYRIGHT : Teerthanker Mahaveer University
EDITION : 2024 (Restricted Circulation)
PUBLISHED BY : Teerthanker Mahaveer University, Moradabad

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
आप्त मीमांसा	1–18
जैनदर्शन : मनन और मीमांसा	19–69
न्याय और न्याय शास्त्र	19–21
जैन न्याय का उदभव और विकास	21–29
प्रमाण मीमांसा	29–38
प्रत्यक्ष प्रमाण	38–45
परोक्ष प्रमाण	45–55
आगम प्रमाण	55–61
प्रमाण समन्वय	62–63
प्रमाता और प्रमाण का भेदाभेद	63–69

जैनदर्शन : मनन और मीमांसा

न्याय और न्यायशास्त्र

मीमांसा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमांसा का नाम न्याय—तर्कविद्या है।

न्याय का शाब्दिक अर्थ है—'प्राप्ति' और पारिभाषिक अर्थ है—'युक्ति के द्वारा पदार्थ—प्रमेय—वस्तु की परीक्षा करना।' एक वस्तु के बारे में अनेक विरोधी विचार सामने आते हैं, तब उनके बलाबल का निर्णय करने के लिए जो विचार किया जाता है, उसका नाम परीक्षा है।

'क' के बारे में इन्द्र का विचार सही है और चन्द्र का विचार गलत है, यह निर्णय देने वाले के पास एक पुष्ट आधार होना चाहिए; अन्यथा उसके निर्णय का कोई मूल्य नहीं हो सकता। 'इन्द्र' के विचार को सही मानने का आधार यह हो सकता है कि उसकी युक्ति (प्रमाण) में साध्य-साधन की स्थिति अनुकूल हो, दोनों (साध्य-साधन) में विरोध न हो। 'इन्द्र' की युक्ति के अनुसार 'क' एक अक्षर (साध्य) है क्योंकि उसके दो टुकड़े नहीं हो सकते।

'चन्द्र' के मतानुसार 'ए' भी अक्षर है; क्योंकि वह वर्णमाला का एक अंग है। 'चन्द्र' का मत गलत है; क्योंकि इसमें साध्य-साधन की संगति नहीं है। 'ए' वर्णमाला का अंग है, फिर भी अक्षर नहीं है। वह 'अ+इ' के संयोग से बनता है, इसलिए संयोगज वर्ण है।

न्याय-पद्धति की शिक्षा देने वाला शास्त्र 'न्यायशास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य अंग चार हैं—

1. तत्त्व की मीमांसा करने वाला—प्रमाता (आत्मा)
2. मीमांसा का मानदण्ड—प्रमाण (यथार्थ-ज्ञान)
3. जिसकी मीमांसा की जाए—प्रमेय (पदार्थ)
4. मीमांसा का फल—प्रमिति (हेय-उपादेय-मध्यस्थ-बुद्धि)

न्यायशास्त्र की उपयोगिता

प्राणिमात्र में अनन्त चैतन्य होता है। यह सत्तागत समानता है। विकास की अपेक्षा उसमें तारतम्य भी अनन्त होता है। सबसे अधिक विकासशील प्राणी मनुष्य है। वह उपयुक्त सामग्री मिलने पर चैतन्य-विकास की चरमसीमा-केवलज्ञान तक पहुंच सकता है। इससे पहली दशाओं में भी उसे बुद्धि-परिष्कार के अनेक अवसर मिलते हैं।

मनुष्य-जाति में स्पष्ट अर्थ-बोधक भाषा और लिपि-संकेत—ये दो ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके द्वारा उसके विचारों का स्थिरीकरण और विनिमय होता है। स्थिरीकरण का परिणाम है साहित्य और विनिमय का परिणाम है आलोचना।

जैसे-जैसे मानवीय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे साहित्य अनेक दिशागामी बनता चला जाता है।

जैन वाङ्मय में साहित्य की शाखाएं चार हैं—

1. चरणकरणानुयोग—आचार-मीमांसा, उपयोगितावाद या कर्त्तव्यवाद। यह आध्यात्मिक पद्धति है।
2. धर्मकथानुयोग—आत्म-उद्बोधन शिक्षा, रूपक दृष्टान्त और उपदेश।
3. गणितानुयोग—अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद।
4. द्रव्यानुयोग—अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद।

तर्क-मीमांसा और वस्तु-स्वरूप-शास्त्र आदि का समावेश इसमें होता है। यह दार्शनिक पद्धति है। यह दस प्रकार का है—

1. द्रव्यानुयोग—द्रव्य का विचार। जैसे—द्रव्य गुण-पर्यायवान् होता है। जीव में ज्ञान-गुण और सुख-दुःख आदि पर्याय मिलते हैं, इसलिए वह द्रव्य है।

2. मातृकानुयोग—सत् का विचार। जैसे—द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होने के कारण सत् होता है। जीव-स्वरूप की दृष्टि में ध्रुव होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से उत्पाद-व्यय-धर्म वाला है इसलि वह सत् है।
3. एकार्थिकानुयोग—एक अर्थ वाले शब्दों का विचार। जैसे—जीव, प्राणी, भूत, सत्व आदि-आदि जीव के पर्यायवाची नाम हैं।
4. करणानुयोग—साधन का विचार, साधकतम पदार्थ की मीमांसा। जैसे जीव, काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ पाकर कार्य में प्रवृत्त होता है।
5. अर्पितानर्पितानुयोग—मुख्य और गौण का विचार, भेदाभेद-विवक्षा। जैसे—जीव अभेद-दृष्टि से जीव मात्र है और भेद-दृष्टि की अपेक्षा वह दो प्रकार का है—बद्ध और मुक्त। बद्ध के दो भेद हैं—स्थावर और त्रस।
6. भाविताभावितानुयोग—अन्य से प्रभावित और अप्रभावित विचार। जैसे—जीव की अजीव द्रव्य या पुद्‌गल द्रव्य-प्रभावित अशुद्ध दशाएं, पुद्‌गल-मुक्त स्थितियां—शुद्ध दशाएं।
7. बाह्याबाह्यानुयोग—सादृश्य और वैसादृश्य का विचार। जैसे—सचेतन जीव अचेतन आकाश से बाह्य (विसदृश) है और आकाश की भांति जीव अमूर्त है, इसलिए वह आकाश से अबाह्य (सदृश) है।
8. शाश्वताशाश्वतानुयोग—नित्यानित्य विचार। जैसे—द्रव्य की दृष्टि से जीव अनादि-निधन है, पर्याय की दृष्टि से वह नये-नये पर्यायों में जाता है।
9. तथाज्ञानअनुयोग—सम्यग्दृष्टि जीव का विचार।
10. अतथाज्ञानअनुयोग—असम्यग्दृष्टि जीव का विचार।

एक विषय पर अनेक विचारकों की अनेक मान्यताएं, अनेक निगमन—निष्कर्ष होते हैं। जैसे—आत्मा के बारे में—

अक्रियावादी-नास्तिक—आत्मा नहीं है।

क्रियावादी-आस्तिक दर्शनों में—

1. जैन—आत्मा चेतनावान्, देह-परिमाण, परिणामी-नित्यानित्य, शुभ-अशुभ, कर्म-कर्त्ता, फल-भोक्ता और अनन्त है।
2. बौद्ध—क्षणिक चेतना प्रवाह के अतिरिक्त आत्मा और कुछ नहीं है।
3. नैयायिक-वैशेषिक—आत्मा कूटस्थ-नित्य, अपरिणामी, अनेक और
4. सांख्य—आत्मा अकर्त्ता, निष्क्रिय, भोक्ता, बहु और व्यापक है।

यहां वास्तविक निष्कर्ष की परीक्षा के लिए बुद्धि में परिष्कार चाहिए। इस बौद्धिक परिष्कार का साधन न्यायशास्त्र है। यह बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाता है। फलितार्थ में बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाना, यही न्यायशास्त्र की उपयोगिता है।

अर्थ-सिद्धि के तीन रूप

उद्देश्य से कार्य का आरम्भ होता है और सिद्धि से अन्त। उद्देश्य और सिद्धि एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। उद्देश्य की सिद्धि के लिए क्रिया चलती है और उसकी सिद्धि होने पर क्रिया रुक जाती। प्रत्येक सिद्धि (निवृत्तिक्रिया) के साथ निर्माण, प्राप्ति या निर्णय—इन तीनों में से एक अर्थ अवश्य जुड़ा रहता है, इसलिए अर्थसिद्धि के तीन रूप बनते हैं।

1. असत् का प्रादुर्भाव (निर्माण)—मिट्टी से घड़े का निर्माण। मिट्टी के ढेर में पहले जो घड़ा नहीं था, वह बाद में बना, यह असत् का प्रादुर्भाव है। अर्थ की सिद्धि है—एक 'घड़ा' नामक वस्तु की उत्पत्ति।

2. सत् वस्तु की प्राप्ति—प्यास लग रही है। पानी पीने की इच्छा है। पानी मिल जाना, यह सत् वस्तु की प्राप्ति है।
3. भावज्ञप्ति—वस्तु के स्वरूप का निर्णय। यह सत् पदार्थ की निश्चित जानकारी या बौद्धिक प्राप्ति है।

इनमें (1) असत् की उत्पत्ति और (2) सत् की प्राप्ति से न्यायशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। न्यायशास्त्र का क्षेत्र सत् की निश्चिति है। परस्पर कारण के रूप में इष्ट-वस्तु की प्राप्ति भी प्रमाण का फल माना जा सकता है।

जैन न्याय का उद्गम और विकास

जैन तत्त्ववाद प्रागैतिहासिक है। इसका सम्बन्ध युग के आदिपुरुष भगवान् ऋषभनाथ से जुड़ता है। भारतीय साहित्य में भगवान् ऋषभनाथ के अस्तित्व-साधक प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। जैन साहित्य में जो तत्त्ववाद हमें आज मिलता है, वह अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की उपदेश-गाथाओं से सम्बद्ध है। फिर भी हमेंयह स्मरण रखना चाहिए कि जैन सूत्र भगवान् ऋषभनाथ और भगवान् महावीर के तत्त्ववाद की मौलिक एकता का समर्थन करते हैं। जैनदर्शन का नामकरण भी इसी का पोषक है। इसका किसी व्यक्ति के नाम से समबन्ध नहीं। अविच्छिन्न परम्परा के रूप में यह चलता आ रहा है।

'निर्ग्रन्थ प्रवचन', 'आर्हत दर्शन', 'जैनदर्शन'—इस प्रकार नाम क्रम बदलने पर भी सभी नाम गुणात्मक रहे, किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं जुड़े। निर्ग्रंन्थ, अर्हत् और जिन—ये नाम सभी तीर्थंकरों के हैं, किसी एक तीर्थंकर के नहीं। इसलिए परम्परा की दृष्टि से जैन तत्त्ववाद प्रागैतिहासिक और तद्विषयक उपलब्ध साहित्य की अपेक्षा वह भगवान् महावीर का उपदेश है। इस दृष्टि से उपलब्ध जैन न्याय के उद्गम का समय विक्रम पूर्व पांचवीं शताब्दी है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र (2/2/33) में स्याद्वाद में विरोध दिखाने का प्रयत्न किया है। बादरायण का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है। इससे भी जैन न्याय-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। जैन आगम-सूत्रों में स्थान-स्थान पर न्याय के प्राणभूत अंगों का उल्लेख मिलता है। उनके आधार पर जैन-विचार-पद्धति की रूपरेखा और मौलिकता सहज समझी जा सकती हैं।

जैन न्याय की मौलिकता

'जैन न्याय मौलिक है' इसे समझने के लिए हमें जैन आगमों में तर्क का क्या स्थान है'—इस पर दृष्टि डालनी होगी।

कथा तीन प्रकार की होती है—1. अर्थ-कथा, 2. धर्म-कथा, 3. काम-कथा।

धर्म-कथा के चार भेद हैं। उनमें दूसरा भेद है—विक्षेपणी। इसका तात्पर्य है—धर्म-कथा करने वाला मुनि—

1. अपने सिद्धान्त की स्थापना कर पर-सिद्धान्त का निराकरण करे।
2. पर-सिद्धान्त का निराकरण कर अपने सिद्धान्त की स्थापना करे।
3. पर-सिद्धान्त के सम्यग्वाद को बताकर उसके मिथ्यावाद को बताए।
4. पर-सिद्धान्त के मिथ्यावाद को बताकर उसके सम्यग्वाद को बताए।

तीन प्रकार की वक्तव्यता—

1. स्व-सिद्धान्त-वक्तव्यता।
2. पर-सिद्धान्त-वक्तव्यता।
3. उन दोनों की वक्तव्यता।

स्व-सिद्धान्त की स्थापना और पर-सिद्धान्त का निराकरण वादविद्या में कुशल व्यक्ति ही कर सकता है।

भगवान् महावीर के पास समृद्धवादी-सम्पदा थी। चार सौ मुनि वादी थे। नो निपुण पुरुषों में वादी को निपुण (सूक्ष्मज्ञानी) माना गया है।

भगवान् महावीर ने आहरण (दृष्टान्त) और हेतु के प्रयोग में कुशल साधु को ही धर्म-कथा का अधिकारी बताया है।

इसके अतिरिक्त चार प्रकार के आहरण और उसके चार दोष, चार प्रकार के हेतु, छह प्रकार के विवाद, दस प्रकार के दोष, दस प्रकार के विशेष, आदेश (उपचार) आदि-आदि कथाङ्गों का प्रचुर मात्रा में निरूपण मिलता है।

तर्क-पद्धति के विकीर्ण बीज जो मिलते हैं, उनका व्यवस्थित रूप क्या था, यह समझना सुलभ नहीं किन्तु इस पर से इतना निश्चित कहा जा सकता है कि जैन परम्परा के आगम-युग में भी परीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कई तीर्थिक जो-हिंसात्मक प्रवृत्तियों से 'सिद्धि' की प्राप्ति बताते हैं, उनके इस अभिमत को 'अपरीक्ष्य दृष्ट' कहा गया है 'सत्-असत् की परीक्षा किये बिना अपने दर्शन की श्लाघा और दूसरे दर्शन की गर्हा कर स्वयं को विद्वान् समझने वाले संसार से मुक्ति नहीं पाते।' इसलिए जैन परीक्षा-पद्धति का यह प्रधान पाठ रहा है कि 'स्व-पक्ष-सिद्धि और पर-पक्ष की सिद्धि करते समय आत्मा-समाधि वाले मुनि को 'बहुगुण प्रकल्प' के सिद्धान्त को नहीं भूलना चाहिए। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन अथवा मध्यस्थ वचन—ये बहुगुण का सर्जन करने वाले हैं। वादकाल में अथवा साधारण वार्तालाप में मुनि ऐसे हेतु आदि का प्रयोग करे, जिससे विरोध न बढ़े .... हिंसा न बढ़े।'

वादकाल में हिंसा से बचाव करते हुए मुनि तत्त्व-परीक्षा के लिए प्रस्तुत रहते, तब उन्हें प्रमाण-मीमांसा की अपेक्षा होती, यह स्वयं गम्य होता है।

जैन-साहित्य दो भागों में विभक्त है—आगम और ग्रन्थ।

आगम के दो विभाग हैं—अंग और अंग-अतिरिक्त।

अंग स्वतः प्रमाण हैं। अंग-अतिरिक्त साहित्य वही प्रमाण होता है जो अंग-साहित्य का विसंवादी नहीं होता।

केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर दशपूर्वधर और नवपूर्वधर (दसवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु सहित) ये आगम कहलाते हैं। उपचार से इनकी रचना को भी 'आगम' कहा जाता है।

अन्य स्थविरों और आचार्यों की रचनाओं की संज्ञा 'ग्रन्थ' है। इनकी प्रामाणिकता का आधार आगम की अविसंवादकता है।

अंग-साहित्य की रचना भगवान् महावीर की उपस्थिति में हुई। भगवान् के निर्वाण के बाद इनका लघुकरण और कई आगमों का संकलन और संग्रहण हुआ। इनका अंतिम स्थिर रूप विक्रम की पांचवीं शताब्दी से हैं।

आगम-साहित्य के आधार पर प्रमाण-शास्त्र की रूपरेखा इस प्रकार बनती है।

1. प्रमेय—सत्

सत् के तीन रूप हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद और व्यय की समष्टि—पर्याय।

ध्रौव्य—गुण।

गुण और पर्याय की समष्टि—द्रव्य।

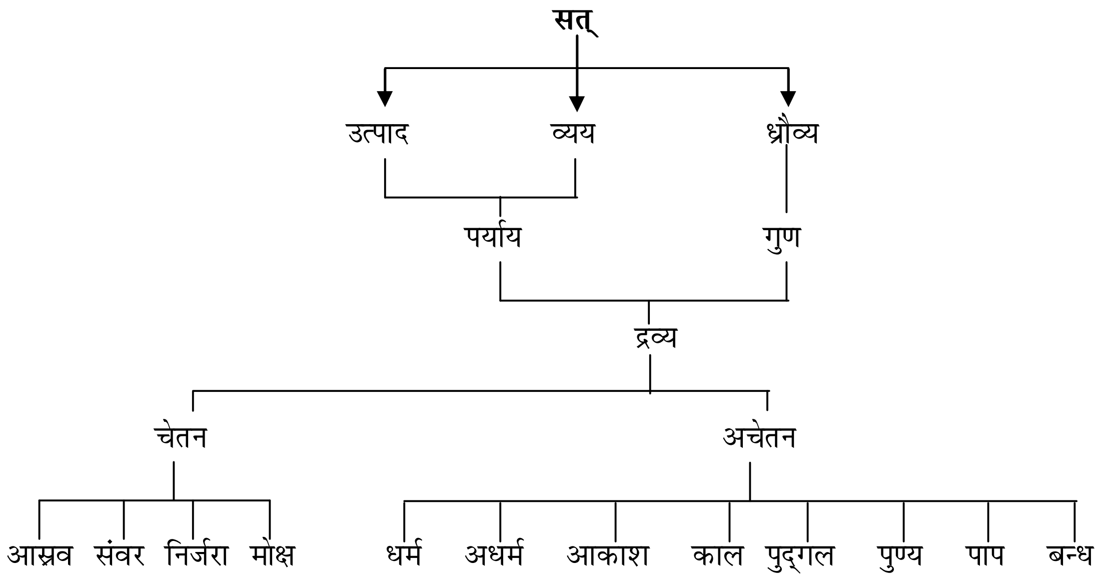

2. प्रमाण—

(भगवती के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)

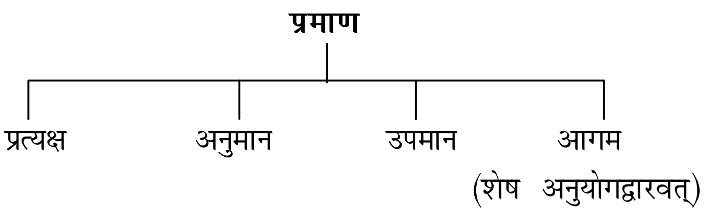

(स्थानांगसूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)

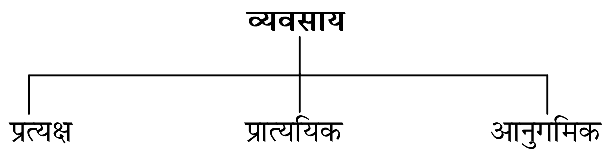

अथवा—(द्वितीय प्रकार)

ज्ञान दो प्रकार का होता है—1. प्रत्यक्ष, 2. परोक्ष।

प्रत्यक्ष के दो भेद—1. भवस्थ-केवलज्ञान, 2. सिद्ध-केवल-ज्ञान।

भवस्थ-केवलज्ञान के दो भेद—1. सयोगि-भवस्थ-केवलज्ञान। 2. अयोगि-भवस्थ-केवज्ञान।

सयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान के दो भेद—

1. प्रथम समय सयोगि-भवस्थ केवलज्ञान
2. अप्रथम समय सयोगि-भवस्थ केवलज्ञान

अथवा—1. चरम समय सयोगि-भवस्थ केवलज्ञान, 2. अचरम समय सयोगि-भवस्थ केवलज्ञान।

अयोगि-भवस्थ केवलज्ञान के दो भेद—1. प्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवलज्ञान। 2. अप्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवलज्ञान।

अथवा—1. चरम समय अयोगि-भवस्थ केवलज्ञान। 2. अचरम समय अयोगि-भवस्थ-केवलज्ञान।

सिद्धकेवल-ज्ञान के दो भेद—1. अनन्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान, 2. परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान

अनन्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद—1. एकान्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान, 2. अनेकान्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान

परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञानके दो भेद—1. एक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान,
2. अनेक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान

नो-केवल-ज्ञान के दो भेद—1. अवधि-ज्ञान, 2. मनःपर्यवज्ञान

अवधिज्ञान के दो भेद—1. भव-प्रात्ययिक, 2. क्षायोपशमिक

मनःपर्यव के दो भेद—1. ऋजुमति, 2. विपुलमति

परोक्षज्ञान के दो भेद—1. अभिनिबोधिक ज्ञान, 2. श्रुतज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद—1. श्रुत-निश्रित, 2. अश्रुत-निश्रित

श्रुत-निश्रित के दो भेद—1. अर्थावग्रह, 2. व्यंजनावग्रह

अश्रुत निश्रित के दो भेद—अर्थावग्रह, 2. व्यंजनावग्रह

अथवा—तृतीय प्रकार

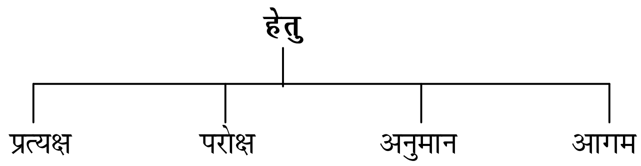

[अनुयोगद्वार (144) के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था]

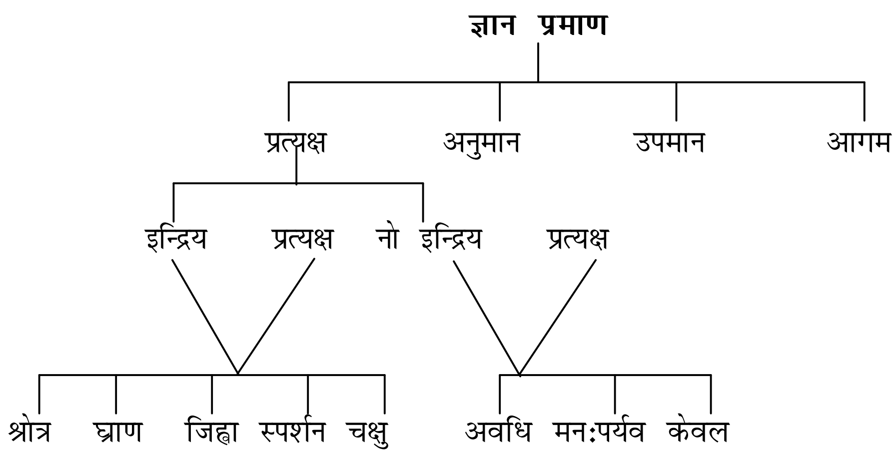

(नन्दीसूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)

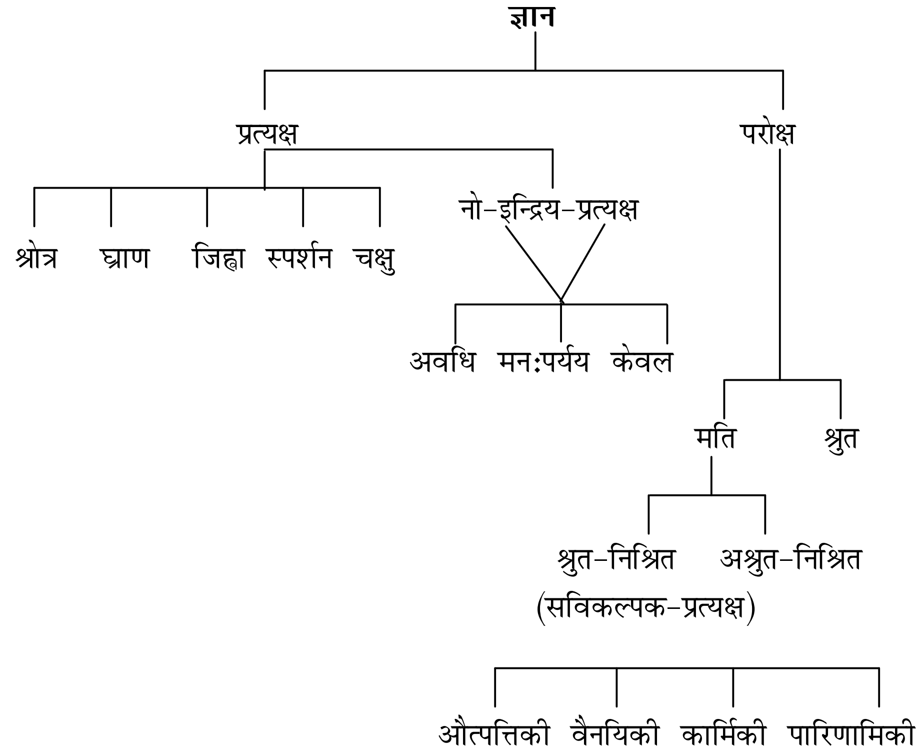

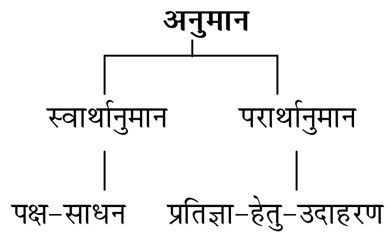

3. प्रमिति-प्रमाण फल—

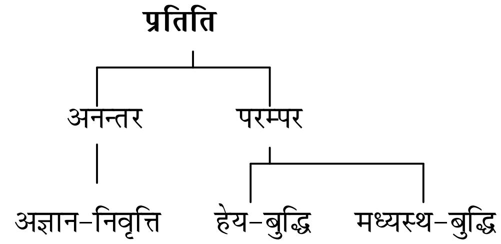

4. प्रमाता—ज्ञाता—आत्मा।

5. विचार-पद्धति—अनेकान्त-दृष्टि।

प्रमेय का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय आदि विरोधी धर्म-युगलों का एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से स्वीकार।

6. वाक्य-प्रयोग—स्याद्वाद और सद्वाद।

(क) स्याद्वाद—अखण्ड वस्तु का अपेक्षा-दृष्टि से एक धर्म को मुख्य और शेष सब धर्मों को उसके अन्तर्हित कर प्रतिपादन करने वाला वाक्य 'प्रमाण-वाक्य' है। इसके तीन रूप हैं—स्यात्-अस्ति, स्यात-नास्ति और स्यात्-अवक्तव्य।

(ख) सद्वाद—वस्तु के एक धर्म का प्रतिपादन करने वाला वाक्य 'नय-वाक्य' है। इसके सात भेद हैं—

1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार, 4. ऋजुसूत्र, 5. शब्द, समभिरूढ़, 7. एवम्भूत।

हेतु

चार प्रकार के हेतु

1. विधि-साधक विधि हेतु
2. निषेध-साधक विधि हेतु
3. विधि-साधक निषेध हेतु
4. निषेध-साधक निषेध हेतु।

चार प्रकार के हेतु—

क. यापक—समय-यापक हेतु। विशेषण-बहुल, जिसे प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके।

ख. स्थापक—प्रसिद्ध-व्याप्तिक साध्य को शीघ्र स्थापित करने वाला हेतु।

ग. व्यंसक—प्रतिवादी को छल में डालने वाला हेतु।

घ. लूषक व्यंसक से प्राप्त आपत्ति को दूर करने वाला हेतु।

आहरण

चार प्रकार के आहरण—

क. अधर्मयुक्त—अधर्मबुद्धि उत्पन्न करने वाला दृष्टान्त।

ख. प्रतिलोम—अपसिद्धान्त का प्रतिवादक दृष्टान्त।

अथवा—'शठे शाठ्यं समाचरेत्—ऐसी प्रतिकूलता की शिक्षा देने वाला दृष्टान्त।

ग. आत्मोपनीत—परमत में दोष दिखाने के लिए दृष्टान्त रखना जिससे स्वमत दूषित बन जाए।

घ. दुरुपनीत—दोषपूर्ण निगमन वाला दृष्टान्त।

वाद के दोष

1. तज्जात-दोष—वादकाल में आचरण आदि का दोष बताना अथवा प्रतिवादी से क्षुब्ध होकर मौन हो जाना।
2. मतिभंग-दोष—तत्त्व की विस्मृति हो जाना।
3. प्रशास्तृ-दोष—सभानायक या सीय की ओर से होने वाला प्रमाद।
4. परिहरण दोष—अपने दर्शन की मर्यादा या लोक-रूढ़ि के अनुसार अनासेव्य का आसेवन करना अथवा आसेव्य का आसेवन नहीं करना अथवा वादी द्वारा उपन्यस्त हेतु का सम्यक् प्रतिकार न करना।
5. स्वलक्षण-दोष—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव।
6. कारण-दोष—कारण ज्ञान न होने पर पदार्थ को अहेतुक मान लेना।
7. हेतु-दोष—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक।
8. संक्रमण-दोष—प्रस्तुत प्रमेय में अप्रस्तुत प्रमेय का समावेश करना अथवा परमत जिस तत्त्व को स्वीकार नहीं करता उसे उसका मान्य तत्त्व बतलाना।
9. निग्रह-दोष—छल आदि से निगृहीत हो जाना।
10. वस्तु-दोष (पक्ष-दोष)

1. प्रत्यक्ष-निराकृत—शब्द अश्रावण है।
2. अनुमान-निराकृत—शब्द नित्य है।
3. प्रतीति-निराकृत—शशी अचन्द्र है।
4. स्व-वचन-निराकृत—मैं कहता हूँ वह मिथ्या है।
5. लोकरूढ़ि-निराकृत—मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है।

विवाद

1. अपसरण—अवसर-लाभ के लिए येन-केन-प्रकारेण समय बिताना।
2. उत्सुकीकरण—अवसर मिलने पर उत्सुक हो जय के लिए वाद करना।
3. अनुलोमन—विवादाध्यक्ष को 'साम' आदि नीति के द्वारा अनुकूल बनाकर अथवा कुछ समय के लिए प्रतिवादी का पक्ष स्वीकार कर उसे अनुकूल बनाकर वाद करना।
4. प्रतिलोमन—सर्व-सामर्थ्य-दशा में विवादाध्यक्ष अथवा प्रतिवादी को प्रतिकूल बनाकर वाद करना।
5. संसेवन—अध्यक्ष को प्रसन्न रख वाद करना।
6. मिश्रीकरण या भेदन—निर्णयदाताओं में अपने समर्थकों को मिश्रित करके अथवा उन्हें (निर्णयदाताओं) प्रतिवादी का विरोधी बनाकर याद करना।

प्रमाण-व्यवस्था का आगमिक आधार

1. प्रमेय

प्रमेय अनन्त-धर्मात्मक होता है। इसका आधार यह है कि वसतु में अनन्तपर्यव होते हैं।

2. प्रमाण

प्रमाण की परिभाषा है—व्यवसायी ज्ञान का यथार्थ-ज्ञान। इनमें पहली का आधार स्थानांग का 'व्यवसाय' शब्द है। दूसरी का आधार ज्ञान और प्रमाण का पृथक्-पृथक् निर्देशन है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है, इसलिए ज्ञान सामान्य के निरूपण में ज्ञान पांच बतलाए हैं।

प्रमाण यथार्थ ज्ञान ही होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान के निरूपण में वे दो बन जाते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

3. अनुमान का परिवार

अनुयोगद्वार के अनुसार श्रुतज्ञान परार्थ और शेष सब ज्ञान स्वार्थ हैं। इस दृष्टि से सभी प्रमाण जो ज्ञानात्मक हैं वे स्वार्थ हैं और जो वचनात्मक हैं वे परार्थ हैं। इसी के आधार पर सिद्धसेन, वादिदेव सूरि प्रत्यक्ष को परार्थ मानते हैं। अनुमान, आगम आदि की स्वार्थ-परार्थ रूप द्विविधता का यही आधार है।

4. प्रमिति

प्रमाण का साक्षात् फल है—अज्ञान-निवृत्ति और व्यवहित फल है—हेयबुद्धि और मध्यस्थ बुद्धि। इसका आधार श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान और संयम का क्रम है। श्रवण का फल ज्ञान, ज्ञान का विज्ञान, विज्ञान का प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल है संयम। दर्शनावरण के विलय से 'सुनना' मिलता है। श्रुत अर्थ में ज्ञानावरण के विलय से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये होते हैं। इनसे ज्ञान होता है, अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर विज्ञान होता है—हेय, उपादेय की बुद्धि बनती है। इसके बाद हेय का प्रत्याख्यान—त्याग होता है। त्याग के पश्चात् संयम।

आध्यात्मिक दृष्टि से यावन्मात्र पर संयोग है, वह हेय है। पर-संयोग मिटने पर संयम आता है, अपनी स्थिति में रमण होता है। वह बाहर से नहीं आता, इसलिए उपादेय कुछ भी नहीं। लौकिक दृष्टि में हेय और उपादेय दोनों होते हैं। जो वस्तु न ग्राह्य होती है और न अग्राह्य, वहां मध्यस्थ बुद्धि बनती है अथवा हर्ष और शोक दोनों से बचे रहना, वह मध्यस्थ बुद्धि है।

इनके अतिरिक्त व्याप्ति, अभाव, उपचार आदि के भी बीज मिलते हैं। जैन प्रमाण और परीक्षा-पद्धति का विकास इन्हीं के आधार पर हुआ है। दूसरे दर्शनों के उपयोगी अंश अपनाने में जैनाचार्यों को कभी आपत्ति नहीं रही है। उन्होंने अन्य परम्पराओं की नयी सूझों का हमेशा आदर किया है और अपनाया है। फिर भी यह निर्विवाद है कि उनकी न्याय-परम्परा सर्वथा स्वतंत्र और मौलिक है और भारतीय न्यायशास्त्र को उसकी एक बड़ी देन है।

अनेकान्त-व्यवस्था

आगम-साहित्य में सिर्फ ज्ञान और ज्ञेय की प्रकीर्ण मीमांसा ही नहीं मिलती, उनकी व्यवस्था भी मिलती है। सूत्रकृतांग में विचार और आचार, दोनों के बारे में अनेकान्त का तलस्पर्शी विवेचन मिलता है। भगवती और सूत्रकृतांग में अनेक मतवादों का निराकरण कर स्वपक्ष की स्थापना की गई है।

इन बिखरी मुक्ताओं को एक धागे में पिरोने का काम पहले-पहल आचार्य उमास्वाति ने किया। उनका तत्त्वार्थसूत्र जैन न्याय विकास की पहली रश्मि है। यों कहना चाहिए कि विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के लगभग जैन-परम्परा में 'प्रमाणनयैरधिगम' सूत्र के रूप में स्वतंत्र परीक्षा-शैली का शिलान्यास हुआ।

धार्मिक मतवादों के पारस्परिक संघर्ष ज्यों-ज्यों बढ़ने लगे और अपनी मान्यताओं को युक्तियों द्वारा समर्थित करना अनिवार्य हो गया, तब जैन आचार्यों ने भी अपनी दिशा बदली, अपने सिद्धान्तों को युक्ति की कसौटी पर कसकर जनता के सामने रखा। इस काल में अनेकान्त का विकास हुआ।

अहिंसा की साधना जैनाचार्यों का पहला लक्ष्य था। उससे हटकर मत-प्रचार करने को वे कभी लालायित नहीं हुए। साधु के लिए पहले 'आत्मानुकम्पी' (अहिंसा की साधना में कुशल) होना जरूरी है। जैन-आचार्यों की दृष्टि में विवाद या शुष्क तर्क का स्थान कैसा था, इस पर महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन की 'वादद्वात्रिंशिका' पूरा प्रकाश डालती है।

हरिभद्रसूरि का वादाष्टक भी शुष्क तर्क पर सीधा प्रहार है। जैनाचार्यो ने तार्किक आलोक में उतरने की पहली नहीं की, इसका अर्थ उनकी तार्किक दुर्बलता नहीं किन्तु समतावृत्ति ही थी।

वाद-कथा क्षेत्र में एक ओर गौतम प्रदर्शित छल, जल्प, वितंडा, जाति और निग्रह की व्यवस्था और दूसरी ओर अहिंसा का मार्ग कि—'अन्य-तीर्थिकों के साथ वाद करने के समय आत्म-समाधि वाला मुनि सत्य के साधक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण का प्रयोग करे और इस प्रकार बोले कि प्रतिपक्षी अपना विरोधी न बने। सत्य का शोधक और साधक 'अप्रतिज्ञ होता है, वह असत्य-तत्त्व का समर्थन करने की प्रतिज्ञा नहीं रखता'—यह एक समस्या थी, इसको पार करने के लिए अनेकान्तदृष्टि का सहारा लिया गया।

अनेकान्त के विस्तारक श्वेताम्बर-परम्परा में 'सिद्धसेन' और दिगम्बर-परम्परा में 'समन्तभ्रद' हुए। उनका समय विक्रम की पांचवीं-छठी शती के लगभग माना जाता है। सिद्धसेन ने 32 द्वात्रिंशिका और सन्मति की रचना करके यह सिद्ध किया कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन नयों का समूह-विविध सापेक्ष दृष्टियों का समन्वय है। एकान्तदृष्टि मिथ्या होती है। उसके द्वारा 'सत्य' नहीं पकड़ा जा सकता। जितने पर-समय हैं, वे सब नयवाद हैं। एक दृष्टि को ही एकान्त रूप से पकड़े हुए हैं, इसलिए वे सत्य की ओर नहीं

ले जा सकते। जिन-प्रवचन में नित्यवाद, अनित्यवाद, काल, स्वभाव, नियति आदि सब दृष्टियों का समन्वय होता है, इसलिए यह सत्य का सीधा मार्ग है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आप्तमीमांसा' में वीतराग को आप्त सिद्ध कर उनकी अनेकान्त वाणी से 'सत्' का यथार्थ-ज्ञान होने का विजय-घोष किया। उन्होंने अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अव्यक्तव्य—इन चार भंगों के द्वारा सदेकान्तवादी सांख्य, असदेकान्तवादी बौद्ध के माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवाच्यैकान्तवादी बौद्ध के दुराग्रहवाद का बड़ी सफलता से निराकरण किया। भेद-एकान्त, अभेद-एकान्त आदि अनेक एकान्त पक्षों में दोष दिखाकर अनेकान्त की व्यापक सत्ता का पथ प्रशस्त कर दिया।

स्याद्वाद—सप्तभंगी और नय की विशद योजना में इन दोनों आचार्यों की लेखनी का चमत्कार आज भी सर्व-सम्मत है।

प्रमाण-व्यवस्था

आचार्य सिद्धसेन के 'न्यायावतार' में प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और उसके अवयवों की चर्चा प्रमाण-शास्त्र की स्वतंत्र रचना का द्वार खोल देती है। फिर भी उसकी आत्मा शैशवकालीन-सी लगती है। इसे यौवनश्री तक ले जाने का श्रेय दिगम्बर आचार्य अकलंक को है। उनका समय विक्रम की आठवीं-नवीं शताब्दी है। उनके 'लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय' और 'प्रमाण-संग्रह' में मिलने वाली प्रमाण-व्यवस्था पूर्ण विकसित है। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों धाराओं में उसे स्थान मिला है। इसके बाद समय-समय पर अनेक आचार्यों द्वारा लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे गए। दसवीं शताब्दी की रचना माणिक्यनंदी का 'परीक्षा-मुखमण्डन', बारहवीं शताब्दी की रचना वादिदेवसूरि का 'प्रमाण नय तत्त्वालोक' और आचार्य हेमचन्द्र की 'प्रमाण-मीमांसा', पंद्रहवीं शताब्दी की रचना धर्मभूषण की 'न्यायदीपिका', अठारहवीं शताब्दी की रचना यशोविजयजी की 'जैन तर्कभाषा' बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त बहुत सारे लाक्षणिक ग्रन्थ अभी तक अप्रसिद्ध भी पड़े हैं। इन लाक्षणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दार्शनिक चर्चा और प्रमाण के लक्षण की स्थापना और उत्थापना में जिनता योग है, वे भी प्रचुर मात्रा में हैं।

प्रमाण-मीमांसा

प्रमाण का लक्षण

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और संशय-विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण सिर्फ यथार्थ-ज्ञान होता है। वस्तु का संशय आदि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

ज्ञान की करणता

प्रमाण का सामान्य लक्षण है—'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'—प्रमा का करण ही प्रमाण है। 'तद्वति तत्प्रकारानुभवः प्रमा'—जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही जानना 'प्रमा' है।। करण का अर्थ है साधकतम। एक अर्थ की सिद्धि में अनेक सहयोगी होते हैं किन्तु वे सब 'करण' नहीं कहलाते। फल की सिद्धि में जिसका व्यापार अव्यवहित (प्रकृत उपकारक) होता है वह 'करण' कहलाता है। कलम बनाने में हाथ और चाकू दोनों चलते हैं किन्तु चाकू ही होगा। कलम काटने का निकटतम सम्बन्ध चाकू से है, हाथ से उसके बाद। इसलिए हाथ साधक और चाकू साधकतम कहलाएगा।

प्रमाण के सामान्य लक्षण में किसी को आपत्ति नहीं है। विचार का विषय 'करण' बनता है। बौद्ध सारूप्य और योग्यता को 'करण' मानते हैं। नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को करण मानते हैं। इस दशा में जैन सिर्फ ज्ञान को ही करण मानते हैं। सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ-बोध की सहायक सामग्री है। उसका निकट सम्बन्धी ज्ञान ही है और वही ज्ञान और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

प्रमाण का फल होता है—अज्ञान-निवृत्ति, इष्ट-वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग। यह सब प्रमाण को ज्ञान-स्वरूप माने बिना हो नहीं सकता। इसलिए अर्थ के सम्यक् अनुभव में 'करण' बनने का श्रेय ज्ञान को ही मिल सकता है।

प्रमाण की परिभाषा का क्रमिक विकास

प्रामाणिक क्षेत्र में प्रमाण की अनेक धाराएं बहीं, तब जैन आचार्यों को भी प्रमाण की स्वमन्तव्य-पोषक एक परिभाषा निश्चित करनी पड़ी। जैन विचार के अनुसार प्रमाण की आत्मा 'निर्णायक ज्ञान' है। जैसाकि आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है—

'तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात्, व्यर्थमन्यद् विशेषणम्॥'

पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान 'प्रमाण' है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है और सब विशेषण व्यर्थ है किन्तु फिर भी परिभाषा के पीदे जो कई विशेषण लगे उसके मुख्य तीन कारण हैं—

1. दूसरों के प्रमाण लक्षण से अपने लक्षण का पृथक्करण।
2. दूसरों के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण।
3. बाधा का निरसन।

आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण का लक्षण बतलाया है—'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'—स्व और पर को प्रकाशित करने वाला अबाधित ज्ञान प्रमाण है। परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसक ज्ञान को स्वप्रकाशित नहीं मानते। उनके मत से 'ज्ञान है'—इसका पता अर्थ-प्राकट्यात्मक अर्थापत्ति से लगता है। दूसरे शब्दों में, उनकी दृष्टि में ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। अर्थ को हम जानते हैं—यह अर्थज्ञान (अर्थ-प्राकट्य) है। हम अर्थ को जानते हैं इससे पता चलता है कि अर्थ को जानने वाला ज्ञान है। अर्थ की जानकारी के द्वारा ज्ञान की जानकारी होती है'—यह परोक्ष ज्ञानवाद है। ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवादी नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म-समवायी दूसरे ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान पर-प्रकाशित है, प्रमेय हैं। अचेतन ज्ञानवादी सांख्य प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्रकृति की पर्याय—विकार है, इसलिए वह अचेतन है।

उक्त परिभाषा में आया हुआ 'स्व-आभासि' शब्द इनके निराकरण की ओर संकेत करता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान 'स्व-आभासि' है। ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है, यह जानने के लिए अर्थ-प्राकट्य (अर्थ-बोध) की अपेक्षा नहीं है।

1. ज्ञान प्रमेय ही नहीं, ईश्वर के ज्ञान की भांति प्रमाण भी है।
2. ज्ञान अचेतन नहीं—जड़ प्रकृति का विकार नहीं, आत्मा का गुण है।

ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानते हैं, बाह्य पदार्थ को नहीं। इसका निराकरण करने के लिए 'पर आभासि' विशेषण जोड़ा गया।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की भांति बाह्य वस्तुओं की भी पारमार्थिक सत्ता है।

विपर्यय आदि प्रमाण नहीं हैं, यह बतलाने के लिए 'बाधविवर्जित' विशेषण है।

समूचा लक्षण तत्काल प्रचलित लक्षणों से जैन लक्षण का पृथक्करण करने के लिए है।

आचार्य अकलंक ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थग्राही' विशेषण लगाकर एक नयी परम्परा शुरू कर दी। इस पर बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का प्रभाव पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक 'धारावाहिक ज्ञान' (अधिगत ज्ञान—गृहीतग्राही ज्ञान) को प्रमाण मानने के पक्ष में थे और बौद्ध विपक्ष में। आचार्य अकलंक ने बौद्ध दर्शन का साथ दिया। आचार्य अकलंक का प्रतिबिम्ब आचार्य माणिक्य नंदी पर पड़ा। उन्होंने यह माना कि 'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं्—स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। इसमें आचार्य अकलंक के मत का 'अपूर्व' शब्द के द्वारा समर्थन किया।

वादिदेव सूरि ने 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्' इस सूत्र में माणिक्य नन्दी के 'अपूर्व' शब्द पर ध्यान नहीं दिया।

इस काल में दो धाराएं चल पड़ी। दिगम्बर आचार्यों ने गृहीत-ग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण नहीं माना। श्वेताम्बर आचार्य इसको प्रमाण मानते थे। दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने इस प्रश्न को खड़ा कना उचित ही नहीं समझा। उन्होंने बड़ी उपेक्षा के साथ बताया कि—

'गृहीतमगृहीतं वा, स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु, विजहाति प्रमाणताम्॥'

स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है, चाहे वह गृहीतग्राही हो, चाहे अगृहीतग्राही।

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षण-सूत्र का परिष्कार ही नहीं किया किन्तु एक ऐसी बात सुझाई, जो उनकी सूक्ष्म-दृष्टि की परिचायक है। उन्होंने कहा—'ज्ञान स्वप्रकाशी होता अवश्य है, फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं बनता। कारण कि प्रमाण की भांति अप्रमाण—संशय विपर्यय ज्ञान भी स्वसंविदित होता है। पूर्वाचार्यों ने 'स्वनिर्णय' को लक्षण में रखा है, वह परीक्षा के लिए है, इसलिए वहां कोई दोष नहीं आता'—यह लिखकर उन्होंने अपने पूर्वजों के प्रति अत्यन्त आदर सूचित किया है।

आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा—'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्'—अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है। यह जैन-प्रमाण-लक्षण का अंतिम परिष्कृत रूप है।

आचार्य तुलसी ने 'यथार्थज्ञानं प्रमाणम्'—यथार्थ (सम्यक्) ज्ञान प्रमाण है, इसमें अर्थ पद को भी नहीं रखा। ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ—ये दो रूप बाह्य पदार्थों के प्रति उसका व्यापार होता है, तब बनते हैं। इसलिए अर्थ के निर्णय का बोध 'यथार्थ' पद अपने आप करा देता है। यदि बाह्य अर्थ के प्रति ज्ञान का व्यापार नहीं होता तो लक्षण में यथार्थ-पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व

प्रमाण सत्य होता है, इसमें कोई द्वैत नहीं, फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नहीं है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार वह यथार्थ है। यथार्थ का अर्थ है—'ज्ञान की तथ्य के साथ संगति।' ज्ञान अपने प्रति सत्य ही होता है। प्रमेय के साथ उसकी संगति निश्चित नहीं होती, इसलिए उसके दो रूप बनते हैं—तथ्य के साथ संगति हो वह सत्य ज्ञान और तथ्य के साथ संगति न हो वह असत्य ज्ञान।

अबाधितत्त्व, अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन या अपूर्वअर्थप्रापण, अविसंवादित्त्व या संवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्तिसामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता—ये सत्य की कसौटियां हैं, जो भिन्न-भिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही हैं।

आचार्य विद्यानन्द अबाधितत्त्वबाधक प्रमाण के अभाव या कथनों के पारस्परिक सामंजस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं। सन्मति-टीकाकार आचार्य अभयदेव इसका निराकरण करते हैं। आचार्य अकलंक बौद्ध और मीमांसक अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन (अज्ञात अर्थ के ज्ञापन) को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं। वादिदेव सूरि और आचार्य हेमचन्द्र इसका निराकरण करते हैं।

संवादीप्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनों का व्यवहार सर्व-सम्मत है। किन्तु ये प्रमाण्य के मुख्य नियामक नहीं बन सकते। संवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की भांति व्यापक नहीं है। प्रत्येक निर्णय में तथ्य के साथ ज्ञान की संगति अपेक्षित होती है, वैसे संवादक ज्ञान प्रत्येक निर्णय में अपेक्षित नहीं होता। वह क्वचित् ही सत्य को प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थ-सिद्धि का दूसरा रूप है। ज्ञान तब तक सत्य नहीं होता, जब तक वह फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं बन जाता। यह भी सार्वदिक सत्य नहीं है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। क्वचित् यह 'सत्य की कसौटी' बनता है, इसलिए यह अमान्य भी नहीं है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। ज्ञानोत्पादक सामग्री में मिलने वाले गुण और दोष क्रमशः प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त बनते हैं। निर्विशेषण सामग्री से यदि ये दोनों उत्पन्न होते हैं तो इन्हें स्वतः माना जाता किन्तु ऐसा होता नहीं। ये दोनों सविशेषण सामग्री से पैदा होते हैं; जैसे गुणवत्-सामग्री से प्रामाण्य और दोषवत्-सामग्री से अप्रामाण्य। अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनों में होता है। किन्तु अप्रमाण (संशय-विपर्यय) में अर्थ-परिच्छेद यथार्थ नहीं होता और प्रमाण में वह यथार्थ होता है। अयथार्थ-परिच्छेद की भांति यथार्थ-परिच्छेद भी सहेतुक होता है। दोष मिट जाए, मात्र इससे यथार्थता नहीं आती। वह तब आती है, जब गुण उसके कारण बने। जो कारण बनेगा वह 'पर' कहलाएगा। ये दोनों विशेष स्थिति-सापेक्ष हैं, इसलिए इनकी उत्पत्ति 'पर' से होती है।

प्रमाण्य-निश्चय के दो रूप—स्वतः और परतः

जानने के साथ-साथ 'यह जानना ठीक है' ऐसा निश्चय होता है, वह स्वतः निश्चय है।

जानने के साथ-साथ 'यह जानना ठीक है' ऐसा निश्चय नहीं होता तब दूसरी कारण सामग्री से—संवादक प्रत्यय से उसका निश्चय किया जाता है, यह परतः निश्चय है। जैन प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः भी मानते हैं और परतः भी।

स्वतः प्रामाण्य-निश्चय

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सचाई जानने के लिए विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र के घर कई बार गया हुआ है। उससे भली-भांति परिचित है। वह मित्र-गृह को देखते ही निस्सन्देह उसमें प्रविष्ट हो जाता है। 'यह मेरे मित्र का घर है'—ऐसा ज्ञान होने के समय ही उस ज्ञानगत सचाई का निश्चय नहीं होता तो वह उस घर में प्रविष्ट नहीं होता।

परतः प्रामाण्य-निश्चय

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सचाई का पता नहीं लगता तब विशेष कारणों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परतः प्रामाण्य है। पहले सुने हुए चिन्हों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है, फिर भी उसे यह संदेह हो सकता है कि यह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सचाई मालूम हो जाती है। यहां ज्ञान की सचाई का दूसरे की सहायता से पता लगा, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है। विशेष कारण-सामग्री के दो प्रकार हैं—संवादक प्रमाण अथवा बाधक प्रमाण का अभाव।

जिस प्रमाण से पहले प्रमाण की सचाई का एक निश्चय होता है, उसका प्रामाण्य-निश्चय परतः नहीं होता। पहले प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय कराने वाले प्रमाण की प्रामाणिकता परतः मानने पर प्रमाण की शृंखला का अंत नहीं होता और न अंतिम निश्चय ही हाथ लगता है। संवादक प्रमाण किसी दूसरे प्रमाण का ऋणी बनकर सही जानकारी नहीं देता। कारण कि उसे जानकारी देने के समय उसका ज्ञान करना नहीं है। अतः उसके लिए स्वतः या परतः का प्रश्न ही नहीं उठता।

'प्रामाण्य का निश्चय स्वतः या परतः होता है'—यह विभाग विषय (ग्राह्यवस्तु) की अपेक्षा से है। ज्ञान के स्वरूप-ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य-निश्चय अपने आप होता है।

अयथार्थ ज्ञान या समारोप

एक रस्सी के बारे में चार व्यक्तियों के ज्ञान के चार रूप हैं:

पहला—यह रस्सी है—यथार्थ-ज्ञान।

दूसरा—यह सांप है—विपर्यय।

तीसरा—यह रस्सी है या सांप है?—संशय।

चौथा—रस्सी को देखकर भी अन्यमनस्कता के कारण ग्रहण नहीं करता—अनध्यवसाय।

पहले व्यक्ति का ज्ञान सही है। यही प्रमाण होता है, जो पहले बताया जा चुका है। शेष तीनों व्यक्तियों के ज्ञान में वस्तु का सम्यक् निर्णय नहीं होता, इसलिए वे अयथार्थ है।

विपर्यय

विपर्यय निश्चयात्मक होता है किन्तु निश्चय पदार्थ के असली स्वरूप के विपरीत होता है। जितनी निरपेक्ष एकान्त-दृष्टियां होती हैं, वे सब विपर्यय की कोटि में आती हैं। पदार्थ अपनी गुणात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है और अवस्था-भेद की दृष्टि से अनित्य। इसलिए उसका समष्टि रूप बनता है—पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। यह सम्यक् ज्ञान है। इसके विपरीत पदार्थ नित्य ही है अथवा पदार्थ अनित्य ही है—यह विपर्यय ज्ञान है।

अनेकान्त दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पदार्थ कथंचित् नित्य ही है, कथंचित् अनित्य ही है।' यह निरपेक्ष नहीं किन्तु कथंचित् यानी गुणात्मक सत्ता की अपेक्षा नित्य ही है और परिणमन की अपेक्षा अनित्य ही है। पदार्थ नष्ट नहीं होता, यह प्रमाणसिद्ध है। उसका रूपान्तर होता है यह प्रत्यक्षसिद्ध है। इस दशा में पदार्थ को एकान्ततः नित्य या अनित्य मानना सम्यग् निर्णय नहीं हो सकता।

विपरीत ज्ञान के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों में विभिन्न धारणाएं हैं—

सांख्य, योग और मीमांसक (प्रभाकर) इसे विवेकाख्याति या अख्याति, वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति, बौद्ध (योगाचार) 'आत्म-ख्याति', कुमारिल (भट्ट) नैयायिक-वैशेषिक 'विपरीत ख्याति', (या अन्यथा ख्याति) और चार्वाक अख्याति (निरावलम्बन) कहते हैं।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह 'सत्-असत् ख्याति' है। रस्सी में प्रतीत होने वाला सांप स्वरूपतः सत् और रस्सी के रूप में असत् है। ज्ञान के साधनों की विकल दशा में सत् का असत् के रूप में ग्रहण होता है, यह 'सदसत्ख्याति' है।

संशय

ग्राह्य वस्तु की दूरी, अंधेरा, प्रमाद, व्यामोह आदि-आदि जो विपर्यय के कारण बनते हैं, वे ही संशय के कारण हैं। हेतु दोनों के समान हैं, फिर भी उनके स्वरूप में बड़ा अन्तर है। विपर्यय में जहां सत् में असत् का निर्णय होता है, वहां संशय में सत् या असत् किसी का भी निर्णय नहीं होता। संशय ज्ञान की एक दोलायमान अवस्था है। वह 'यह' या 'वह' के घेरे को तोड़ नहीं सकता। उसके सारे विकल्प अनिर्णायक होते हैं। एक सफेद चार पैर और सींग वाले प्राणी को दूर से देखते ही मन विकल्प से भर जाता है—क्या यह गाय है अथवा गवय—रोझ?

निर्णायक विकल्प संशय नहीं होता, यह हमें याद रखना होगा। पदार्थ के बारे में अभी-अभी हम दो विकल्प कर आए हैं—'पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी।' यह संशय नहीं है। संशय या अनिर्णायक विकल्प वह होता है जहां पदार्थ के एक धर्म के बारे में दो विकल्प होते हैं। अनेक-धर्मात्मक वस्तु के अनेक धर्मों पर होने वाले प्रत्येक विकल्प इसलिए निर्णायक होते हैं कि उनकी कल्पना आधारशून्य नहीं होती। स्याद्वाद के प्रामाणिक विकल्पों—भंगों को संशयवाद कहने वालों को यह स्मरण रखना चाहिए।

अनध्यवसाय

अनध्यवसाय आलोचन मात्र होता है। किसी पक्षी को देखा आलोचन शुरू हो गया—इस पक्षी का क्या नाम है? चलते-चलते किसी पदार्थ का स्पर्श हुआ। यह जान लिया कि स्पर्श हुआ है किन्तु किस वस्तु का हुआ है, यह नहीं जाना। इस ज्ञान की आलोचना में ही परिसमाप्ति हो जाती है, कोई निर्णय नहीं निकलता। इसमें वस्तु-स्वरूप का अन्यथा ग्रहण नहीं होता, इसलिए यह विपर्यय से भिन्न है और यह विशेष का स्पर्श नहीं करता, इसलिए संशय से भी भिन्न है। संशय में व्यक्ति का भी उल्लेख होता है। यह जाति सामान्य विषयक है। इसमें पक्षी और स्पर्श किए व्यक्ति का नामोल्लेख नहीं होता।

अनध्यवसाय वास्तव में अयथार्थ नहीं है, अपूर्ण है। वस्तु जैसी है उसे विपरीत नहीं किन्तु उसी रूप में जानने में अक्षम है। इसलिए इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा है। अनध्यवसाय को अयथार्थ उसी दशा में कहा जा सकता है, जबकि यह 'आलोचन मात्र' तक ही रह जाता है। अगर यह आगे बढ़े तो अवग्रह के अन्तर्गत हो जाता है।

अयथार्थ ज्ञान के हेतु

एक ही प्रमाता का ज्ञान कभी प्रमाण बन जाता है और कभी अप्रमाण। यह क्यों? जैन दृष्टि में इसका समाधान यह है कि यह सामग्री के दोष से होता है। प्रमाता का ज्ञान निरावरण होने पर ऐसी स्थिति नहीं बनती। उसका ज्ञान अप्रमाण नहीं होता। यह स्थिति उसके सावरणज्ञान की दशा में बनती है।

ज्ञान की सामग्री द्विविध होती है—आन्तरिक और बाह्य। आंतरिक सामग्री है, प्रमाता के ज्ञानावरण का विलय। आवरण के तारतम्य के अनुपात में जानने की न्यूनाधिक शक्ति होती है। ज्ञान के दो क्रम हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और आत्म-परोक्ष। आत्म-प्रत्यक्ष जितनी योग्यता विकसित होने पर जानने के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। आत्म-परोक्ष की ज्ञान की दशा में बाह्य सामग्री का महत्त्वपूर्ण स्थान होता

है। इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाला ज्ञान बाह्य सामग्री सापेक्ष होता है। पौद्गलिक इन्द्रियां, पौद्गलिक मन, आलोक, उचित सामीप्य या दूरत्व, दिग्, देश, काल आदि बाह्य सामग्री के अंग हैं।

अयथार्थ ज्ञान के निमित्त प्रमाता और बाह्य सामग्री दोनों हैं। आवरण-विलय मन्द होता है और बाह्य सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब अयथार्थ ज्ञान होता है। आवरण विलय की मन्दता में बाह्य सामग्री की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। उससे ज्ञान की स्थिति में परिवर्तन आता है। तात्पर्य यह है कि अयथार्थ ज्ञान का निमित्त ज्ञान-मोह है और ज्ञानमोह का निमित्त दोषपूर्ण सामग्री है। परोक्ष ज्ञान-दशा में चेतना का विकास होने पर भी अदृश्य सामग्री के अभाव में यथार्थ बोध नहीं होता। अर्थ-बोध ज्ञान की योग्यता से नहीं होता, किन्तु उसके व्यापार से होता है। सिद्धान्त की भाषा में लब्धिप्रमाण नहीं होता। प्रमाण होता है उपयोग। लब्धि (ज्ञानावरण विलयजन्य आत्म-योग्यता) शुद्ध ही होती है। उसका उपयोग शुद्ध या अशुद्ध (यथार्थ या अयथार्थ) दोनों प्रकार का होता है। दोषपूर्ण ज्ञानसामग्री ज्ञानावरण के उदय का निमित्त बनती है। ज्ञानावरण के उदय से प्रमाता मूढ़ बन जाता है। यही कारण है कि वह ज्ञानकाल में प्रवृत्त होने पर भी ज्ञेय की यथार्थता को नहीं जान पाता।

संशय और विपर्यय के काल में प्रमाता जो जानता है वह ज्ञानावरण का परिणाम नहीं किन्तु वह यथार्थ नहीं जान पाता, वह अज्ञान ज्ञानावरण का परिणाम है। समोरोपज्ञान में अज्ञान (यथार्थ-ज्ञान के अभाव) की मुख्यता होती है, इसलिए मुख्यवृत्ति से उसे ज्ञानावरण के उदय का परिणाम कहा जाता है। वस्तुवृत्त्या जितना ज्ञान का व्यापार है, वह ज्ञानावरण के विलय का परिणाम है और उसमें जितना यथार्थज्ञान का अभाव है, यह ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।

अयथार्थ ज्ञान के दो पहलू

अयथार्थ ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक विपर्यय को मिथ्यात्व और आध्यात्मिक संशय को मिश्र मोह कहा जाता है। इनका उद्भव आत्मा की मोह दशा से होता है। इससे श्रद्धा विकृत होती है।

व्यावहारिक संशय और विपर्यय का नाम है 'समारोप'। यह ज्ञानावरण के उदय से होता है। इससे ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

पहला पक्ष दृष्टि-मोह है और दूसरा पक्ष ज्ञान-मोह। इनका भेद समझाते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—'तत्त्व श्रद्धा में विपर्यय होने पर मिथ्यात्व होता है। अन्यत्र विपर्यय होता है, तब ज्ञान असत्य होता है किन्तु वह मिथ्यात्व नहीं बनता।'

दृष्टि-मोह मिथ्यादृष्टि से ही होता है। ज्ञान-मोह सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि—दोनों के होता है। दृष्टि-मोह मिथ्यात्व है, किन्तु अज्ञान नहीं। मिथ्यात्व मोह-जनित होता है और अज्ञान (मिथ्यादृष्टि का ज्ञान) ज्ञानावरण-विलय (क्षयोपशम) जनित। श्रद्धा का विपर्यय मिथ्यात्व से होता है, अज्ञान से नहीं।

मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्तर बताते हुए जयाचार्य ने लिखा है—'अज्ञानी कई विषयों में विपरीत श्रद्धा रखता है वह मिथ्यात्व-आस्रव है। वह मोह कर्म के उदय से पैदा होता है, इसलिए वह अज्ञान नहीं। अज्ञानी जितना सम्यग् जानता है, वह ज्ञानावरण के विलय से उत्पन्न होता है। वह अधिकारी की अपेक्षा से अज्ञान कहलाता है, इसलिए अज्ञान और विपरीत श्रद्धा दोनों भिन्न हैं।'

जैसे मिथ्यात्व सम्यक् श्रद्धा का विपर्यय है, वैसे अज्ञान ज्ञान का विपर्यय नहीं है। ज्ञान और अज्ञान में स्वरूप-भेद नहीं किन्तु अधिकारी भेद है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान।

अज्ञान में नञ् समास कुत्सार्थक है। ज्ञान कुत्सित नहीं, किन्तु ज्ञान का पात्र जो मिथ्यात्वी है, उसके संसर्ग से वह कुत्सित कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि का समारोप ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का समारोप या असमारोप अज्ञान। इसका यह अर्थ नहीं होता कि सम्यग्दृष्टि का समारोप भी प्रमाण होता है और मिथ्यादृष्टि का असमारोप भी अप्रमाण। समारोप दोनों का अप्रमाण होगा। असमारोप दोनों का प्रमाण। मिथ्यात्व और समयक्त्व के निमित्त क्रमशः दृष्टि-मोह का उदय और विलय है। समारोप का निमित्त है ज्ञानावरण या ज्ञान-मोह। समारोप का निमित्त दृष्टि-मोह माना जाता है, वह उचित प्रतीत नहीं होता। 'जहां विषय, साधन आदि का दोष हो वहां वह दोष आत्मा की मोहावस्था ही के कारण अपना कार्य करता है। इसलिए जैन-दृष्टि यही मानती है कि अन्य दोष आत्म-दोष के सहायक होकर ही मिथ्या प्रत्यय के जनक हैं पर उसका मुख्य जनक आत्म-दोष (मोह) ही है।

समारोप का निमित्त ज्ञान-मोह हो सकता है किन्तु दृष्टि-मोह नहीं। उसका सम्बन्ध सिर्फ तात्त्विक विप्रतिपत्ति से है।

तीन अज्ञान—मति, श्रुत, विभंग तथा तीन ज्ञान—मति, श्रुत औ अवधि ये विपर्यय नहीं है। इन दोनों त्रिकों की ज्ञानावरण-विलयजन्य योग्यता में द्विरूपता नहीं है। अन्तर केवल इतना आता है कि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित होता है, इसलिए उसे अज्ञान संज्ञा दी जाती है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित नहीं होता इसलिए उनकी संज्ञा ज्ञान रहती है। ज्ञान जो अज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यात्व के साहचर्य का परिणाम है। किन्तु मिथ्यात्वी का ज्ञानमात्र विपरीत होता है अथवा उसका अज्ञान और मिथ्यात्व एक है, ऐसी बात नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र (1-32, 33) और उसके भाष्य तथा विशेषावश्यकभाष्य में अज्ञान का हेतु सत्-असत् का अविशेष बतलाया है। इससे भी यह फलित नहीं होता कि मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान मात्र विपरीत है या उसका ज्ञान विपरीत ही होता है, इसलिए उसकी संज्ञा अज्ञान है। सत्-असत् के अविशेष का सम्बन्ध उसकी यदृच्छोपलब्ध या तात्त्विक प्रतिपत्ति से है। मिथ्या-दृष्टि की तत्त्व-श्रद्धा या तत्त्व-उपलब्धि यादृच्छिक या अनालोचित होती है, वहां उसके मिथ्यात्व या उन्माद होता है किन्तु उसके इन्द्रिय और मानस का विषय-बोध मिथ्यात्व या उन्माद नहीं होता। वह मिथ्यात्व से अप्रभावित होता है—केवल ज्ञानावरण के विलय से होता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि में सत्-असत् का विवेक होता ही नहीं, यह एकान्त भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। दृष्टि मोह के उदय से उसकी तात्त्विक प्रतिपत्ति में उन्माद आता है, उससे उसकी दृष्टि या श्रद्धा मिथ्या बनती है, किन्तु उसमें दृष्टि-मोह का विलय भी होता है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं होता, जिसमें दृष्टि-मोह का न्यूनाधिक विलय (क्षयोपशम) न मिले।

मिश्रदृष्टि तत्त्व के प्रति संशयितदशा है और मिथ्यादृष्टि विपरीत संज्ञान। संशयितदशा में अतत्त्व का अभिनिवेश नहीं होता और विपरीत संज्ञान में वह होता है, इसलिए पहली भूमिका का अधिकारी अंशतः सम्यग्-दर्शनी होते हुए भी तीसरी भूमिका के अधिकारी की भांति सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि नहीं कहलाता। मिथ्यादृष्टि के साथ सम्यग्-दर्शन का उल्लेख नहीं होता, यह उसके दृष्टि-विपर्यय की प्रधानता का परिणाम है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें सम्यग्-दर्शन का अंश नहीं होता। सम्यग्-दर्शन का अंश होने पर भी वह सम्यग्दृष्टि इसलिए नहीं कहलाता कि उसके दृष्टि-मोह का अपेक्षित विलय नहीं होता।

वस्तुवृत्त्या तत्त्वों की संप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप नहीं है। सम्यक्त्व दृष्टि मोह-रहित आत्म-परिणाम है और मिथ्यात्व दृष्टि मोह-संबलित आत्म-परिणाम। तत्त्वों का सम्यग् और असम्यग् श्रद्धान उनके फल हैं।

प्रमाता दृष्टि-मोह से बद्ध नहीं होता, तब उसका तत्त्व-श्रद्धान यथार्थ होता है और उससे बद्धदशा में वह यथार्थ नहीं होता। आत्मा के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम तात्त्विक सम्प्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति के द्वारा स्थूलवृत्त्या अनुमेय हैं।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार अज्ञानत्रिक में दृष्टि-मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तीन बोध (मति, श्रुत और विभंग) मिथ्यात्व स्वरूप ही होते हैं।

उक्त विवेचन के फलित ये हैं—

1. तात्त्विक-विपर्यय दृष्टि-मोह के उदय का परिणाम है।
2. व्यावहारिक-विपर्यय ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।

प्रमाण-संख्या

प्रमाण संख्या सब दर्शनों में एक-सी नहीं है।

नास्तिक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं।

वैशेषिक दो—प्रत्यक्ष और अनुमान।

सांख्य तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।

मीमांसा (प्रभाकर) पांच—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति।

पौराणिक—उपरोक्त छह के अतिरिक्त सम्भव, ऐतिह्य और प्रातिभ।

जैन दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाण-भेद का निमित्त

आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान है। केवलज्ञान—पूर्णज्ञान अथवा एक ज्ञान। बादलों में ढके हुए सूर्य के प्रकाश में जैसे तारतम्य होता है, वैसे ही कर्म-मलावरण से ढकी हुई आत्मा में ज्ञान का तारतम्य होता है। कर्ममल के आवरण और वनावरण के आधार पर ज्ञान के अनेक रूप बनते हैं। प्रश्न यह है कि किस ज्ञान को प्रमाण मानें? इसके उत्तर में जैन-दृष्टि यह है कि जितने प्रकार के ज्ञान (इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान) हैं, वे सब प्रमाण बन सकते हैं। शर्त केवल यही है कि वे यथार्थ से अवछिन्न होने चाहिए—ज्ञानसामान्य में खींची हुई यथार्थता की भेद-रेखा का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। फलतः जितने यथार्थ ज्ञान उतने ही प्रमाण। यह एक लम्बा-चौड़ा निर्णय हुआ। बात सही है, फिर भी सबके लिए कठिन है, इसलिए इसे समेटकर दो भागों में बांट दिया। बांटने में एक कठिनाई थी। ज्ञान का स्वरूप एक है, फिर उसे कैसे बांटा जाए? इसका समाधान यह मिला कि विकास-यात्रा (अनावृत दशा) के आधार पर उसे बांटा जाए। ज्ञान के पांच स्थूल भेद हुए—

1. मतिज्ञान—इन्द्रिय ज्ञान, मानस ज्ञान ⎤ ऐन्द्रियिक
2. श्रुतज्ञान—शब्दज्ञान ⎦
3. अवधिज्ञान—मूर्त पदार्थ का ज्ञान ⎤
4. मनःपर्यवज्ञान—मानसिक भावना का ज्ञान ⎥ अतीन्द्रिय
5. केवलज्ञान—समस्त द्रव्य-पर्याय का ज्ञान, पूर्णज्ञान ⎦

अब प्रश्न रहा प्रमाण का विभाग कैसे किया जाय? ज्ञान केवल आत्मा का विकास है। प्रमाण पदार्थ के प्रति ज्ञान का सही व्यापार है। ज्ञान आत्मनिष्ठ है। प्रमाण का सम्बन्ध अन्तर्जगत् तक पहुंचाएं, यही प्रमाण का जीवन है। बहिर्जगत् की यथार्थ घटनाओं को अन्तर्जगत् तक पहुंचाए, यही प्रमाण का जीवन है। बहिर्जगत् के प्रति ज्ञान का व्यापार एक-सा नहीं होता। ज्ञान का विकास प्रबल होता है, तब वह बाह्य साधन की सहायता के लिये बिना ही विषय को जान लेता है। विकास कम होता है, तब बाह्य साधन का सहारा लेना पड़ता है। बस यही प्रमाण-भेद का आधार बनता है।

1. पदार्थ को जो सहाय-निरपेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण है और 2. जो सहाय-सापेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह परोक्ष-प्रमाण है। स्वनिर्णय में प्रत्यक्ष ही होता है। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो भेद पदार्थ-निर्णय के दो रूप—साक्षात् और अ-साक्षात् की अपेक्षा से होते हैं।

'प्रत्यक्ष और परोक्ष' प्रमाण की कल्पना जैन न्याय की विशेष सूझ है। इन दो दिशाओं में सब प्रमाण समा जाते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के भेद किए जाते हैं किन्तु भेद उतने ही होने चाहिए जितने अपना स्वरूप असंकीर्ण रख सकें। फिर भी जिनमें यथार्थता है, उन्हें प्रमाणभेद मानने में समन्वयवादी जैनों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष का उदर इतना विशाल है कि उसमें प्रमाणभेद समाने में किंचित् भी कठिनाई नहीं होती।

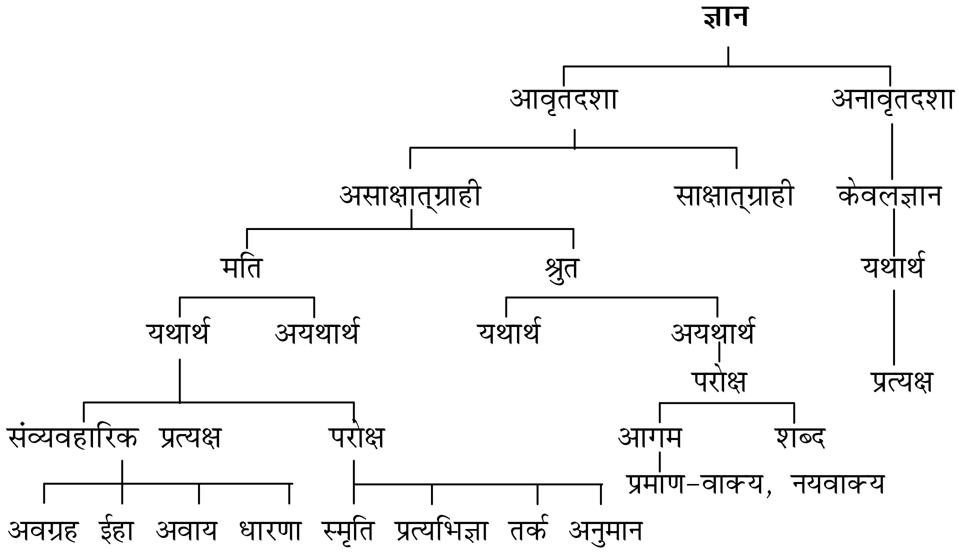

प्रमाण-विभाग

प्रमाण के मुख्य भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्येक के दो भेद होते हैं—व्यवहार-प्रत्यक्ष और परमार्थ-प्रत्यक्ष। व्यवहार-प्रत्यक्ष के चार विभाग हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। परमार्थ-प्रत्यक्ष के तीन विभाग हैं—केवल, अवधि और मनःपर्यव। परोक्ष के पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।

प्रत्यक्ष-प्रमाण

प्रत्यक्ष

'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम'—प्रत्यक्ष-सिद्ध के लिए युक्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती। स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्थान न्यूनाधिक नहीं है। अपने-अपने विषय में दोनों तुल्यबल है। सामर्थ्य की दृष्टि से दोनों में बड़ा अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल में स्वतंत्र होता है और परोक्ष साधन-परतंत्र। फलतः प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित (साक्षात्) सम्बन्ध होता है और परोक्ष का व्यवहित (दूसरे के माध्यम से)।

प्रत्यक्ष-परिवार

प्रत्यक्ष की दो प्रधान शाखाएं हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष। पहली परमार्थाश्रयी है इसलिए यह वास्तविक प्रत्यक्ष है और दूसरी व्यवहाराश्रयी है, इसलिए यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्म-प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—केवलज्ञान—पूर्ण या सकल प्रत्यक्ष और नो-केवलज्ञान—अपूर्ण या विकल-प्रत्यक्ष।

नो-केवलज्ञान के दो भेद हैं—अवधि और मन:पर्यव।

इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं—

1. अवग्रह
2. ईहा
3. अवाय
4. धारणा।

प्रत्यक्ष का लक्षण

आत्म-प्रत्यक्ष—आत्मा—पदार्थ।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष—इन्द्रिय—पदार्थ।

आत्म-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय, मन और प्रमाणान्तर का सहारा लिये बिना आत्मा को पदार्थ का साक्षात् ज्ञान होता है उसे आत्म-प्रत्यक्ष, पारमार्थिक-प्रत्यक्ष या नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष और आत्मा के लिए परोक्ष होता है इसलिए उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या संव्यवहार-प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियां घूम आदि लिङ्ग. का सहारा लिये बिना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं, इसलिए यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है।

आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्षतया अर्थ-परिच्छेदक ज्ञान' को प्रत्यक्ष कहा है। इसमें 'अपरोक्ष' शब्द विशेष महत्त्व का है। नैयायिक 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' को प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्ष' शब्द के द्वारा असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान आत्मा 9त्त्व का है। नैयायिक 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' को प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्ष' शब्द के द्वारा असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान आत्मा (प्रमाता) के साक्षात् नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान की प्रत्यक्षता के लिए अर्थ और उसके बीच अव्यवधान होना जरूरी है।

आचार्य सिद्धसेन की इस निश्चयमूलक दृष्टि का आधार भगवती और स्थानांग की प्रमाण-व्यवस्था है। आचार्य अकलंक की व्याख्या के अनुसार—'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है।' अपरोक्ष के स्थान पर 'विशद' को 'लक्षण' में स्थान देने का एक कारण है। आचार्य अकलंक की प्रमाण-व्यवस्था में व्यवहार-दृष्टि का भी आश्रयण है, जिसका आधार नन्दी की प्रमाण-व्यवस्था है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—मुख्य और संव्यवहार। मुख्य और संव्यवहार। मुख्य-प्रत्यक्ष वही है, जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करें। संव्यवहार प्रत्यक्ष में अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमें 'अपरोक्षतया-अर्थ-ग्रहण' लक्षण नहीं बनता। इसलिए दोनों की संगति करने के लिए 'विशद' शब्द की योजना करनी पड़ी।

'विशद' का अर्थ है—प्रमाणान्तर की अनपेक्षा (अनुमान आदि की अपेक्षा न होना) और 'यह है' ऐसा प्रतिभास होना। संव्यवहार-प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होता है—'यह है' ऐसा प्रतिभास होता है, इसलिए इसकी विशुद्धता' निर्बाध है।

यद्यपि 'अपरोक्ष' का वेदान्त के और विशद का बौद्ध के प्रत्यक्ष-लक्षण से अधिक सामीप्य है, फिर भी उसके विषय-ग्राहक स्वरूप में मौलिक भेद हैं। वेदान्त के मतानुसार पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय) की वृत्ति के माध्यम से होता है। अन्तःकरण की पदार्थाकार अवस्था को वृत्ति कहते हैं। अन्तःकरण दृश्यमान पदार्थ का आकार धारण करता है। आत्मा अपने शुद्ध साक्षी-चैतन्य से उसे प्रकाशित करता है, तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान और ज्ञेय के बीच दूसरी कोई शक्ति नहीं होती। शुद्ध चैतन्य के द्वारा अन्तःकरण को प्रकाशित मानें और अन्तःकरण की पदार्थाकार परिणति मानें, यह प्रक्रिया-गौरव है। आखिर शुद्ध चैतन्य के द्वारा एक को प्रकाशित मानना ही है, तब पदार्थ को ही क्यों न मानें।

बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्विकल्प बोध (दर्शन) निर्णायक नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष तो क्या प्रमाण ही नहीं बनता।

समन्वय का फलितरूप

अपरोक्ष और विशद का समन्वय करने पर सहाय-निरपेक्ष अर्थ फलित होता है। 'अपरोक्ष' यह परिभाषा परोक्ष-लक्षणाश्रित है। 'विशद' यह आकांक्षा-सापेक्ष है। वैशद्य का क्या अर्थ है, इसकी अपेक्षा रहती है। 'सहाय-निरपेक्ष प्रत्यक्ष' इसमें यह आकांक्षा अपने आप पूरी हो जाती है। जो सहाय निरपेक्ष-आत्म-व्यापार-मात्रापेक्ष होगा, वह विशद भी होगा और अपरोक्ष भी। व्यवहार-प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर की और वास्तविक-प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर और पौद्गलिक इन्द्रिय इन दोनों की सहायता अपेक्षित नहीं होती।

अनावृत अवस्था में आत्मा के एक या अखण्ड ज्ञान होता है, वह केवलज्ञान है। जैन-दृष्टि में आत्मा ज्ञान का अधिकरण नहीं, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है। इसीलिए कहा जाता है—चेतन आत्मा का जो निरावरण-स्वरूप है, वही केवलज्ञान है। वास्तव में 'केवल' व्यतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। बाकी के सब ज्ञान इसी की आवरण-दशा के तारतम्य से बनते हैं। जयाचार्य ने ज्ञान के भेद-अभेद की मीमांसा करते हुए समझाया है—'माना कि एक चांदी की चौकी धूल से ढकी हुई है। उसके किनारों पर से धूल हटने लगी। एक कोना दीखा, हमने एक चीज मान ली। दूसरा दीखा तब दो, इसी प्रकार तीसरे और चौथे कोने के दीखने पर चार चीजें मान लीं। बीच में से धूल नहीं हटी, इसलिए उन चारों की एकता का हमें पता नहीं लगा। ज्योंही बीच की धूल हटी, चौकी सामने आयी। हमने देखा कि वे चारों चीजें उसी एक में समा गई हैं। ठीक वैसे ही केवल ज्ञान ढंका रहता है तब तक उसके अल्प-विकसित छोरों को भिन्न-भिन्न ज्ञान माना जाता है। आवरण-विलय (घातिकर्म चतुष्टय का क्षय) होने पर जब केवलज्ञान प्रकट होता है, तब ज्ञान के छोटे-छोटे सब भेद उसमें विलीन हो जाते हैं। फिर आत्मा में सब द्रव्य और द्रव्यगत सब परिवर्तनों को साक्षात् करने वाला एक ही ज्ञान रहता है, वह है केवलज्ञान। त्रिकालवर्ती प्रमेय इसके विषय बनते हैं, इसलिए यह पूर्ण-प्रत्यक्ष कहलाता है। इसकी आवृत दशा में अवधि और मनःपर्यव अपूर्ण (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

व्यवहार-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन अल्प-विकसित होता है, इसलिए पदार्थ के ज्ञान में उनका एक निश्चित क्रम रहता है। हमें उनके द्वारा पहले-पहल वस्तु मात्र—सामान्य रूप या एकता का बोध होता है। उसके बाद क्रमशः वस्तु की विशेष अवस्थाएं या अनेकता जानी जाती है। एकता का बोध सुलभ और अल्पसमयलभ्य होता है। उस दशा में अनेकता का बोध यत्नसाध्य और दीर्घकाललभ्य होता है। उदाहरणस्वरूप—गांव है, वन है, सभा है, पुस्तकालय है, घड़ा है, कपड़ा है—यह बोध हजार घर हैं, सौ वृक्ष हैं, चार सौ आदमी हैं, दस हजार पुस्तकें हैं, अमुक-परिणाम मृत् कण हैं, अमुक परिमाण तन्तु

हैं—से पहले और सहज-सरल होता है। 'आम एक वृक्ष है'—इससे पहले वृक्षत्व का बोध होना आवश्यक है। आम पहले वृक्ष है और बाद में आम।

विशेष का बोध सामान्यपूर्वक होता है। सामान्य व्यापक होता है और विशेष व्याप्य। धर्मी अनेक धर्मो का, अवयवी अनेक अवयवों का, समष्टि अनेक व्यक्तियों का पिण्ड होता है।

एकता का रूप स्थूल और स्पष्ट होता है, इसलिए हमारा स्थूल ज्ञान पहले उसी को पकड़ता है। अनेकता का रूप सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है, इसलिए उसे जानने के लिए विशेष मनोयोग लगाना पड़ता है। फिर क्रमशः पदार्थ के विविध पहलुओं का निश्चय होता है। निश्चय की तीन सीमाएं हैं—

1. दृश्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय—अर्थमात्र-ग्रहण।
2. आलोचनात्मक निश्चय—स्वरूप-विमर्श।
3. अपायात्मक निश्चय—स्वरूप-निर्णय।

इनकी पृष्ठभूमि में दो बातें अपेक्षित हैं—

1. इन्द्रियों और पदार्थ का उचित स्थान में योग (सन्निकर्ष या सामीप्य)
2. निर्विकल्प बोध द्वारा सत्ता मात्र का ज्ञान। जैसे—'है'।
3. ग्राह्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय। जैसे—'यह वस्तु है'।
4. आलोचनात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द होना चाहिए'।
5. अपायात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द ही है'। यहां निश्चय की पूर्णता होती है।
6. निश्चय की धारणा। जैसे—'तद्रूप शब्द ही होता है'। यहां व्यवहार प्रत्यक्ष समाप्त हो जाता है।

अवग्रह

अवग्रह का अर्थ है—पहला ज्ञान। इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध होते ही 'सत्ता है' का बोध जाग उठता है। प्रमाता इसे जान नहीं पाता। इसमें विशेष धर्म का बोध नहीं होता, इसलिए प्रमाण नहीं कहा जा सकता। फिर भी वह उत्तर-भावी-अवग्रह प्रमाण का परिणामी कारण है। इसके बाद स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत का व्यंजन-अवग्रह होता है। 'व्यंजन' के तीन अर्थ हैं—

1. शब्द आदि पुद्गल द्रव्य।
2. उपकरण इन्द्रिय—विषय-ग्राहक इन्द्रिय।
3. विषय और उपकरण इन्द्रिय का संयोग।

व्यंजन-अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है। प्रमाता अब भी नहीं जानता। इसके बाद होता है—अर्थ का अवग्रह।

अर्थ शब्द के दो अर्थ होते हैं—द्रव्य (सामान्य) और पर्याय (विशेष)। अवग्रह आदि पर्याय के द्वारा द्रव्य को ग्रहण करते हैं, पूर्ण द्रव्य को नहीं जान सकते। इन्द्रियां अपने-अपने विषयभूत वस्तु-पर्यायों को जानती हैं और मन भी एक साथ नियत अंश का ही विचार करता है।

अर्थावग्रह व्यंजना से कुछ व्यक्त होता है, जैसे—'यह कुछ है' ..... यह सामान्य अर्थ का ज्ञान है। सामान्य का निर्देश हो सकता है (कहा जा सकता है) जैसे—वन, सेना, नगर आदि-आदि। अर्थावग्रह का विषय अनिर्देश्य-सामान्य होता है—किसी भी शब्द के द्वारा कहा नहीं जा सके, वैसा होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थावग्रह के द्वारा अर्थ के अनिर्देश्य सामान्य रूप का ज्ञान होता है। दर्शन के द्वारा 'सत्ता है' का बोध होता है। अर्थावग्रह के द्वारा 'वस्तु है' का ज्ञान होता है। सत्ता से यह ज्ञान सिर्फ इतना-सा आगे बढ़ता है। इसमें अर्थ के स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया गुण, द्रव्य आदि की कल्पना के अन्तर्गत शाब्दिक प्रतीति नहीं होती। अर्थावग्रह से ज्ञात अर्थ का स्वरूप क्या है, नाम क्या

है, वह किस जाति का है, उसकी क्रिया क्या है, गुण क्या है, कौन-सा द्रव्य है, यह नहीं जाने जाते। इन्हें जाने बिना (स्वरूप आदि की कल्पना के बिना) अर्थ-सामान्य का निर्देश भी नहीं किया जा सकता। उक्त स्वरूप के आधार पर इसकी यह परिभाषा बनती है—'अनिर्देश्य सामान्य अर्थ को जानने वाला ज्ञान अर्थावग्रह होता है।'

प्रश्न हो सकता है कि अनध्यवसाय और अर्थावग्रह—दोनों सामान्यग्राही हैं तब एक को अप्रमाण और दूसरे को प्रमाण क्यों माना जाए? उत्तर स्पष्ट है। अनध्यवसाय अर्थावग्रह का ही आभास है। अर्थावग्रह के दो रूप बनते हैं—निर्णयोन्मुख और अनिर्णयोन्मुख। अर्थावग्रह निर्णयोन्मुख होता है, तब प्रमाण होता है और जब वह निर्णयोन्मुख नहीं होता, अनिर्णय में ही रुक जाता है, तब वह अनध्यवसाय कहलाता है। इसीलिए अनध्यवसाय का अवग्रह में समावेश होता है।

ईहा

अवग्रह के बाद संशय ज्ञान होता है। 'यह क्या है—शब्द है अथवा स्पर्श?' इसके अनन्तर ही जो सत्-अर्थ का साधक वितर्क उठता है—'यह श्रोत्र का विषय है, इसलिए 'शब्द होना चाहिए।' इस प्रकार अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करने वाले ज्ञान-क्रम का नाम 'ईहा' है। इसकी विमर्श-पद्धति अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होती है। ज्ञात वस्तु के प्रतिकूल तथ्यों का निरसन अैर अनुकूल तथ्यों का संकलन कर यह उसके स्वरूप-निर्णय की परम्परा को आगे बढ़ाता है।

ईहा से पहले संशय होता है पर वे दोनों एक नहीं हैं। संशय कोरा विकल्प खड़ा कर देता है, किन्तु समाधान नहीं करता। ईहा संशय के द्वारा खड़े किये हुए विकल्पों को पृथक् करती है। संशय समाधायक नहीं होता, इसीलिए उसे ज्ञान-क्रम में नहीं रखा जाता। अवग्रह में अर्थ के सामान्य रूप का ग्रहण होता है और ईहा में उसके विशेष धर्मों (स्वरूप, नाम, जाति आदि) का पर्यालोचन शुरू हो जाता है।

अवाय

ईहा के द्वारा ज्ञात सत्—अर्थ का निर्णय होता है, जैसे—'यह शब्द ही है, स्पर्श नहीं है'—उसका नाम 'अवाय' है। यह ईहा के पर्यालोचन का समर्थन ही नहीं करता, किन्तु उसका विशेष अवधानपूर्वक निर्णय भी कर डालता है।

धारणा

अवाय द्वारा किया गया निर्णय कुछ समय के लिए टिकता है और मन के विषयान्तरित होते ही वह चला जाता है। पीछे अपना संस्कार छोड़ जाता है। वह स्मृति का हेतु होता है।

धारणाकाल में जो सतत उपयोग चलता है उसे अविच्युति कहा जाता है। उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष से उद्‌बुद्ध होकर स्मृति का कारण होने से दो ज्ञानों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में ज्ञान मानी जाती है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष की परम्परा यहां पूरी हो जाती है। इसके बाद स्मृति आदि की परोक्ष परम्परा शुरू होती है।

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाला होता है। इसकी चर्चा ऊपर की गई है। व्यावहारिक अवग्रह-विशेषित-सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मों की मीमांसा हो चुकती है, उसी वस्तु के नये-नये धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का काम है। अवाय के द्वारा एक तथ्य का निश्चय

होने पर फिर तत्सम्बन्धी दूसरे तथ्य की जिज्ञासा होती है, तब पहले का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह बन जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए फिर ईहा और अवाय होते हैं। यह काम तब तक चलता है, जब तक जिज्ञासाएं पूरी नहीं होती।

नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा—'यह शब्द ही है'—यहां समाप्त हो जाती हैं। इसके बाद व्यावहारिक-अवग्रह की धारा बनती है। जैसे—

1. व्यावहारिक-अवग्रह—यह शब्द है। (संशय—पशु का है या मनुष्य का?)
2. ईहा—स्पष्ट भाषात्मक है, इसलिए मनुष्य का होना चाहिए।
3. अवाय—(विशेष परीक्षा के पश्चात्) मनुष्य का ही है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के उक्त आकार में—'यह शब्द है', यह अपायात्मक निश्चय है। इसका फलित यह होता है कि नैश्चयिक अवग्रह का अपाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि-रूप बनता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाएं हो सकती हैं। जैसे—

अवस्था-भेद से—यह शब्द बालक का है या बूढ़े का?

लिंग-भेद से—स्त्री का है या पुरुष का? आदि-आदि।

व्यवहार-प्रत्यक्ष का क्रम विभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम। अर्थ-ग्रहण के बाद ही विचार हो सकता है, विचार के बाद ही निश्चय और निश्चय के बाद ही धारणा। इसलिए ईहा अवग्रहपूर्वक होती है, अवाय ईहापूर्वक और धारणा अवायपूर्वक।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के ये विभाग निर्हेतुक नहीं हैं। यद्यपि ये एक-वस्तु-विषयक ज्ञान की धारा के अविरल रूप हैं, फिर भी उनकी अपनी विशेष स्थितियां हैं, जो उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करती हैं।

1. 'यह कुछ है'—इतना-सा ज्ञान होते ही प्रमाता दूसरी बात में ध्यान देने लगा, बस वह फिर आगे नहीं बढ़ता। इसी प्रकार 'यह अमुक होना चाहिए—यह अमुक ही है'—यह भी एक-एक हो सकते हैं। यह एक स्थिति है जिसे 'असामस्त्येन उत्पत्ति' कहा जाता है।
2. दूसरी स्थिति है—'क्रमभावित्व'—धारा-निरोध। इनकी धारा अन्त तक चले, यह कोई नियम नहीं किन्तु जब चलती है तब क्रम का उल्लंघन नहीं होता। 'यह कुछ है' इसके बिना 'यह अमुक होना चाहिए'—यह ज्ञान नहीं होता। 'यह अमुक होना चाहिए'—इसके बिना 'यह अमुक ही है' यह नहीं जाना जाता। 'यह अमुक ही है'—इसके बिना धारणा नहीं होती।
3. तीसरी स्थिति है—'क्रमिक प्रकाश'। ये एक ही वस्तु के नये-नये पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि अपने-अपने विषय में इन सबकी निर्णायकता है, इसलिए ये सब प्रमाण हैं। अवाय स्वतंत्र निर्णय नहीं करता। ईहा के द्वारा ज्ञात अंश की अपेक्षा से ही उस पर विशेष प्रकाश डालता है।

अपरिचित वस्तु के ज्ञान में इस क्रम का सहज अनुभव होता है। इसमें कोई संदेह नहीं, हम एक-एक तथ्य का संकलन करते-करते अंतिम तथ्य तक पहुंचते हैं। परिचित वस्तु को जानते समय हमें इस क्रम का स्पष्ट भान नहीं होता। इसका कारण है—'ज्ञान का आशु उत्पाद'—शीघ्र उत्पत्ति। वहां भी यह क्रम नहीं टूटता। क्षणभर में बिजली-घर से सुदूर तक बिजली पहुंच जाती है। वह एक साथ नहीं जातीं गति में क्रम होता है, किन्तु गति का वेग अति तीव्र होता है, इसलिए वह सहज बुद्धिगम्य नहीं होता।

संशय, ईहा और अवाय का क्रम गौतमोक्त सोलह पदार्थगत संशय, तर्क और निर्णय के साथ तुलनीय है।

ईहा और तर्क का भेद

परोक्ष प्रमाणगत तर्क से ईहा भिन्न है। तर्क से व्याप्ति (अन्वय-व्यतिरेक का त्रैकालिक नियम) का निर्णय होता है और ईहा से केवल वर्तमान अर्थ का अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक विमर्श होता है।

न्याय के अनुसार अविज्ञात वस्तु को जानने की इच्छा होती है। जिज्ञासा के बाद संशय उत्पन्न होता है। संशयावस्था में जिस पक्ष की ओर कारण की उत्पत्ति देखने में आती हैं, उसी की संभावना मानी जाती है और वही संभावना तर्क है। 'संशयावस्था में तर्क का प्रयोजन होता है'—यह लक्षण ईहा के साथ संगति कराने वाला है।

प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

साधारणतया पांच इन्द्रियां समकक्ष मानी जाती हैं किन्तु योग्यता की दृष्टि से चक्षु का स्थान कुछ विशेष है। शेष चार इन्द्रियां अपना विषय ग्रहण करने में पटु हैं। इस दशा में चक्षु पटुतर हैं।

स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ग्राह्य वस्तु से संपृक्त होने पर उसे जानते हैं, इसलिए वे पटु हैं। चक्षु ग्राह्य वस्तु को उचित सामीप्य से ही जान लेता है, इसलिए यह पटुतर है। पटु इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, इसलिए उनका व्यंजनावग्रह होता है। चक्षु प्राप्यकारी नहीं, इसलिए उसका व्यंजनावग्रह नहीं होता।

व्यंजनावग्रह सम्पर्कपूर्वक अव्यक्त ज्ञान है। अर्थावग्रह उसी का चरम अंश है। पटु इन्द्रियां एक साथ विषय को पकड़ नहीं सकती। व्यंजनावग्रह के द्वारा अव्यक्त ज्ञान होते-होते जब वह पुष्ट हो जाता है, तब उसको अर्थ का अवग्रह होता है। चक्षु अपना विषय तत्काल पकड़ लेता है, इसलिए उसे पूर्वभावी अव्यक्त ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

मन की भी यही बात है। यह चक्षु की भांति व्यवहित पदार्थ को जान लेता है, इसलिए उसे भी व्यंजनावग्रह की अपेक्षा नहीं होती।

बौद्ध श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नहीं मानते। उक्त दोनों दृष्टियों से जैन-दृष्टि भिन्न हैं।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नहीं जानता। जो शब्द श्रोत्र से संपृक्त होता है, वही उसका विषय बनता है। इसलिए श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं हो सकता। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, इसलिए वे प्राप्यकारी नहीं हो सकते। इनका ग्राह्य वस्तु के साथ सम्पर्क नहीं होता।

विज्ञान के अनुसार—

..... चक्षु में दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिबिम्ब पड़ता है। उससे चक्षु को अपने विषय का ज्ञान होता है। नैयायिकों की प्राप्यकारिता का आधार है चक्षु की सूक्ष्म-रश्मियों का पदार्थ से संपृक्त होना। विज्ञान इसे स्वीकार नहीं करता। वह आंख को एक बढ़िया कैमरा मानता है। उसमें दूरस्थ वस्तु का चित्र अंकित हो जाता है। जैन दृष्टि की अप्राप्यकारिता में इससे कोई बाधा नहीं आती। कारण कि विज्ञान के अनुसार चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नहीं होता। कांच स्वच्छ होता है, इसलिए उसके सामने जो वस्तु आती है, उसकी छाया कांच में प्रतिबिम्बित हो जाती है। ठीक यही प्रक्रिया आंख के सामने कोई वस्तु लाने पर होती है। कांच में पड़ने वाला वस्तु का प्रतिबिम्ब और वस्तु एक नहीं होते, इसलिए कांच उस वस्तु से संपृक्त नहीं कहलाता। ठीक यही बात आंख के लिए हैं।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के 28 भेद—

	अवग्रह	**ईहा**	**अवाय**	**धारणा**

स्पर्शन	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
घ्राण	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
चक्षु	x	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
श्रोत्र	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
मन	x	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा

अवग्रह आदि का कालमान

व्यंजनावग्रह—असंख्य समय।

अर्थावग्रह—एक समय।

ईहा—अन्तर्-मुहूर्त्त।

अवाय—अन्तर्-मुहूर्त्त।

धारणा—संख्येय काल और असंख्येय काल।

मति के दो भेद हैं—'श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित'। श्रुत-निश्रित मति के 28 भेद हैं, जो व्यवहार-प्रत्यक्ष कहलाते हैं। औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय अश्रुत-निश्रित है। नन्दी में श्रुत-निश्रित मति के 28 भेदों का विवरण है। अश्रुत-निश्रित के चार भेदों का इनमें समावेश होता है या नहीं, इसकी कोई चर्चा नहीं। मति के 28 भेद वाली परम्परा सर्वमान्य है किन्तु 28 भेदों की स्वरूप-रचना में दो परम्पराएं मिलती हैं। एक परम्परा अवग्रह-अभेदवादियों की हैं। इसमें व्यंजनावग्रह की अर्थावग्रह से भिन्न गणना नहीं होती, इसलिए श्रुत-निश्रित मति के 24 भेद और अश्रुत-निश्रित के चार—इस प्रकार मति के 28 भेद बनते हैं।

दूसरी परम्परा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की है। इसके अनुसार अवग्रह आदि चतुष्टय अश्रुत-निश्रित और श्रुत-निश्रित मति के सामान्य धर्म हैं, इसलिए भेद-गणना में अश्रुत-निश्रित मति श्रुत-निश्रित में समाहित हो जाती है। फलस्वरूप व्यवहार प्रत्यक्ष के 28 भेद और मति के 28 भेद एक-रूप बन जाते हैं। इसका आधार स्थानांग है। वहां व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह की श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित—इन दोनों भेदों में गणना की है। अश्रुत-निश्रित बुद्धि-चतुष्टय मानस ज्ञान होता है। इसका व्यंजनावग्रह नहीं होता, इससे फलित होता है कि बुद्धि-चतुष्टय के अतिरिक्त भी अवग्रह आदि चतुष्टक अश्रुत-निश्रित होता है।

नंदी के अनुसार अवग्रहादि चतुष्क केवल श्रुत-निश्रित है। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार वह श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित दोनों हैं। स्थानांग के अनुसार वह दोनों तो है ही, विशेष बात यह है कि बुद्धि-चतुष्टय में होने वाला अवग्रहादि चतुष्क ही अश्रुत-निश्रित नहीं किन्तु उसके अतिरिक्त भी अवग्रहादि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है।

परोक्ष-प्रमाण

परोक्ष

1. इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा का जो ज्ञान होता है, वह 'आत्म-परोक्ष है।'

आत्मा—इन्द्रिय ज्ञान—पौद्गलिक-इन्द्रिय—पदार्थ।

2. धूम आदि की सहायता से अग्नि आदि का जो ज्ञान होता है, वह 'इन्द्रिय-परोक्ष है।

आत्मा—इन्द्रिय—धूम—अग्नि।

पहली परिभाषा नैश्चयिक है। इसके अनुसार संव्यवहार-प्रत्यक्ष को वस्तुतः परोक्ष माना जाता है।

मति और श्रुत—ये दोनों ज्ञात आत्म-निर्भर नहीं हैं, इसलिए ये परोक्ष कहलाते हैं मति साक्षात्-रूप में पौद्गलिक-इन्द्रिय और मन के और परम्परा के रूप में अर्थ और आलोक के अधीन होती है। श्रुत साक्षात्-रूप में मन के और परम्परा के रूप में शब्द-संकेत तथा इन्द्रिय (मति-ज्ञानांश) के अधीन होता है। मति में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समकक्ष है, श्रुत में मन का स्थान पहला है।

मति के दो साधन हैं—इन्द्रिय और मन। मन द्विविध-धर्मा है—अवग्रह आदि धर्मवान् और स्मृत्यादि धर्मवान्। इस स्थिति में मति दो भागों में बंट जाती है—व्यवहार-प्रत्यक्ष मति और परोक्ष मति। इन्द्रियात्मक और अवग्रहादि धर्मक मनरूप मति व्यवहार-प्रत्यक्ष है, जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष-विभाग में बतलाया जा चुका है।

स्मृत्यादि धर्मक मन परोक्ष-मति के चार विभाग होते हैं—

1. स्मृति
2. प्रत्यभिज्ञा
3. तर्क
4. अनुमान।

स्मृति धारणामूलक, प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभवमूलक, तर्क प्रत्यभिज्ञामूलक, अनुमान तर्क निर्णीत साधनमूलक होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। श्रुत का साधन मन होता है। उसका एक भेद है—'आगम'। वह वचनमूलक होता है, इसलिए परोक्ष है।

स्मृति प्रामाण्य

जैन तर्क-पद्धति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राच्य भारतीय तर्क-पद्धति में स्मृति का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषय को ग्रहण करती है, इसलिए गृहीतग्राही होने के कारण वह अप्रमाण है—स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। जैनदर्शन की युक्ति यह है कि अनुभव वर्तमान अर्थ को ग्रहण करता है और स्मृति अतीत अर्थ को, इसलिए यह कथंचित् अगृहीतग्राही है। काल की दृष्टि से इसका विषय स्वतंत्र है। दूसरी बात—गृहीतग्राही होने मात्र से स्मृति का प्रामाण्य धुल नहीं जाता।

प्रामाण्य का प्रयोजक अविसंवाद होता है, इसलिए अविसंवादक स्मृति का प्रामाण्य अवश्य होना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञा

नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष से पृथक् नहीं मानते। क्षणिकवादी बौद्ध की दृष्टि में प्रत्यक्ष और स्मृति की संकलना हो भी कैसे सकती है?

जैन-दृष्टि के अनुसार यह प्रत्यक्ष ज्ञान हो नहीं सकता। प्रतयक्ष का विषय होता है—दृश्य-वस्तु, वर्तमान-पर्यायव्यापी द्रव्य। प्रत्यभिज्ञा का विषय बनता है—संकलन—अतीत और प्रत्यक्ष की एकता, पूर्व और अपर पर्यायव्यापी द्रव्य, अथवा दो प्रत्यक्ष द्रव्यों या दो परोक्ष द्रव्यों का संकलन। हमारा प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति त्रिकालविषयक नहीं होता, इसलिए उससे सामने खड़ा व्यक्ति जाना जा सकता है किन्तु 'यह वही व्यक्ति है'—यह नहीं जाना जा सकता। उसकी एकता का बोध स्मृति के मेल से होता है, इसलिए यह अस्पष्ट-परोक्ष है। प्रत्यक्ष और तर्क के मेल से होने वाला अनुमान स्वतंत्र प्रमाण है, तब फिर प्रत्यक्ष और स्मृति के मेल से होने वाली प्रत्यभिज्ञा का स्वतंत्र स्थान क्यों नहीं होना चाहिए?

प्रत्यक्ष-द्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने होती हैं, फिर भी उनका संकलन इन्द्रिय से नहीं होता, विचारने से होता है। विचार के समय उनमें से एक ही वसतु मन के प्रत्यक्ष होती है, इसलिए यह भी प्रत्यक्ष नहीं होता। परोक्ष-द्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने नहीं होती, इसलिए वह प्रतयक्ष का स्पर्श नहीं करता।

प्रत्यभिज्ञान में दो अर्थों का संकलन होता है। उसके तीन रूप बनते हैं—

1. प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन—
   - क. यह वही निर्ग्रन्थ है।
   - ख. यह उसके सदृश है।
   - ग. यह उससे विलक्षण है।
   - घ. यह उससे छोटा है।

पहले आकार में—निर्ग्रन्थ की वर्तमान अवस्था का अतीत की अवस्था के साथ संकलन है, इसलिए यह 'एकत्व प्रत्यभिज्ञा' है।

दूसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व-दृष्ट वस्तु से तुलना है, इसलिए यह 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञा' है।

तीसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व-दृष्ट वस्तु से विलक्षणता है, इसलिए यह 'वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञा' है।

चौथे आकार में—दृष्ट वस्तु पूर्व-दृष्ट वस्तु की प्रतियोगी है, इसलिए यह 'प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा' है।

2. दो प्रत्यक्षों का संकलन—
   - क. यह इसके सदृश है।
   - ख. यह इससे विलक्षण है।
   - ग. यह इससे छोटा है।

   इसमें दोनों प्रत्यक्ष हैं।

3. दो स्मृतियों का संकलन—
   - क. वह उसके सदृश है।
   - ख. वह उससे विलक्षण है।
   - ग. वह उससे छोटा है।

   इसमें दोनों परोक्ष हैं।

तर्क

नैयायिक तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक या सहायक मानते हैं। बौद्ध इसे अप्रमाण मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार यह परोक्ष प्रमाण का एक भेद है। यह प्रत्यक्ष में नहीं समाता। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है किन्तु वह उनके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाता।

यह अग्नि है, यह धुआं है—यह प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु—

1. धूम होने पर अग्नि अवश्य होती है।
2. धूम अग्नि में ही होता है।
3. अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता।

—यह प्रत्यक्ष का काम नहीं, तर्क का है।

हम प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की सहायता से अनेक प्रामाणिक नियमों की सृष्टि करते हैं। वे ही नियम हमें अनुमान करने का साहस बंधाते हैं। तर्क को प्रमाण माने बिना अनुमान की प्रामाणिकता अपने आप मिट जाती है। तर्क और अनुमान की नींव एक है। भेद सिर्फ ऊपरी है। तर्क एक व्यापक नियम है और अनुमान उसका एकदेशीय प्रयोग। तर्क का काम है, धुएं के साथ अग्नि का निश्चित सम्बन्ध बताना। अनुमान का काम है, उस नियम के सहारे अमुक स्थान में अग्नि का ज्ञान कराना। तर्क से धुएं के साथ अग्नि की व्याप्ति जानी जाती है। किन्तु इस पर्वत में 'अग्नि है'—यह नहीं जाना जाता। 'इस पर्वत में अग्नि है'—यह अनुमान का साध्य है। तर्क का साध्य केवल अग्नि (धर्म) होता है। अनुमान का साध्य होता है—'अग्निमान् पर्वत' (धर्मी)। दूसरे शब्दों में तर्क के साध्य का आधार अनुमान का साध्य बनता है।

न्याय की तीन परिधियां हैं—

1. संभव-सत्य।
2. अनुमानित-सत्य।
3. ध्रुव-सत्य।

अकुशल व्यक्ति संभव-सत्य से सत्य ढूंढता है। न्यायाधीश अनुमानित-सत्य से सत्य का पता लगाते हैं। दार्शनिक का न्याय इन दोनों से भिन्न हैं। वह ध्रुव-सत्य—व्याप्ति के द्वारा सत्य की शोध करता है। ध्रुव-सत्य नियमों की निश्चित जानकारी तर्क है। उसके द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार अनुमान होता है।

तर्क का प्रयोजकत्व

'स्वभावे तार्किका भग्ना:'—स्वभाव के क्षेत्र में तर्क का कोई प्रयोजन नहीं होता। इसीलिए जैनदर्शन में दो प्रकार के पदार्थ माने जाते हैं—हेतुगम्य (तर्क-गम्य) और अहेतुगम्य (तर्क-अगम्य)।

पहली बात—तर्क का अपना क्षेत्र कार्य-कारणवाद या अविनाभाव या व्याप्ति है। व्याप्ति का निश्चय तर्क के बिना और किसी से नहीं होता। इसका निश्चय अनुमान से किया जाए तो उसकी (व्याप्ति के निश्चय के लिए प्रयुक्त अनुमान की) व्याप्ति के निश्चय के लिए फिर एक दूसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। कारण यह है कि अनुमान व्याप्ति का स्मरण होने पर ही होता है। साधन और साध्य के सम्बन्ध का निश्चय होने पर ही साध्य का ज्ञान होता है।

पहले अनुमान की व्याप्ति 'ठीक है या नहीं' इस निश्चय के लिए दूसरा अनुमान आये तो दूसरे अनुमान की वही गति होगी और उसकी व्याप्ति का निर्णय करने के लिए फिर तीसरा अनुमान आयेगा। इस प्रकार अनुमान-परम्परा का अन्त नहीं होगा। यह अनवस्था का रास्ता है। इससे कोई निर्णय नहीं मिलता।

दूसरी बात—व्याप्ति अपने निश्चय के लिए अनुमान का सहारा ले और अनुमान व्याप्ति का—यह अन्योन्याश्रय दोष है। अपने-अपने निश्चय में परस्पर एक-दूसरे के आश्रित होने का अर्थ है—अनिश्चय। जिसका यह घोड़ा है, मैं उसका सेवक हूं और जिसका मैं सेवक हूं उसका यह घोड़ा है—इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ भी समझ में नहीं आया। इसलिए व्याप्ति का निश्चय करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

अनुमान

अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित नियम के आधार पर यह उत्पन्न होता है। पर्वत सिद्ध होता है और अग्नि भी। अनुमान इन्हें नहीं साधता। वह 'इस पर्वत में अग्नि है' (अग्निमानयं पर्वतः) इसे साधता है। इस सिद्धि का आधार व्याप्ति है।

अनुमान का परिवार

तर्कशास्त्र के बीज का विकास अनुमानरूपी कल्पतरु के रूप में होता है। कई नैयायिक आचार्य पंचवाक्यात्मक प्रयोग को ही न्याय मानते हैं। निगमन फल-प्राप्ति है। वह समस्त प्रमाणों के व्यापार से होती है। प्रतिज्ञा में शब्द, हेतु में अनुमान, दृष्टान्त में प्रत्यक्ष, उपनय में उपमान—इस प्रकार सभी प्रमाण आ जाते हैं। इन सबके योग से फलितार्थ निकलता है—ऐसा न्यायवार्तिककार का मत है। व्यवहार-दृष्टि से जैन-दृष्टि भी इससे सहमत है। यद्यपि पंचावयव में प्रमाण का समावेश करना आवश्यक नहीं लगता, फिर भी तर्कशास्त्र का मुख्य विषय साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि है, इसमें द्वैत नहीं हो सकता।

अनुमान अपने लिए स्वार्थ होता है, वैसे दूसरों के लिए परार्थ भी होता है। 'स्वार्थ' ज्ञानात्मक होता है और 'परार्थ' वचनात्मक।' 'स्वार्थ' की दो शाखाएं होती हैं—पक्ष और हेतु। 'परार्थ' की जहां श्रोता तीव्र बुद्धि होता है वहां सिर्फ ये दो शाखाएं हैं और जहां मंद बुद्धि होता है वहां पांच शाखाएं होती हैं—पक्ष 2. हेतु 3. दृष्टान्त 4. उपनय 5. निगमन।

स्वार्थ और परार्थ

अनुमान वास्तव में 'स्वार्थ' ही होता है। अनुमाता श्रोता को वचनात्मक हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान कराता है, तब वह वचन श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। वचन-प्रतिपादक के अनुमान का कार्य और श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। प्रतिपादक के अनुमान की अपेक्षा कार्य को कारण मानकर (कारण में कार्य का उपचार कर) और श्रोता के अनुमान की अपेक्षा कारण को कार्य मानकर (कार्य में कारण का उपचार कर) वचन को अनुमान कहा जाता है।

व्याप्ति

व्याप्ति के दो भेद हैं—अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति। पक्षीकृत विषय में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति होती है। आत्मा है—यह पक्ष है। 'चैतन्यगुण मिलता है, इसलिए वह है'—यह साधन है। इसकी व्याप्ति इस प्रकार बनती है—'जहां-जहां चैतन्य है, वहां-वहां आत्मा है'। किन्तु इसके लिए दृष्टान्त कोई नहीं बन सकता; क्योंकि यह व्याप्ति अपने विषय को अपने आप में समेट लेती है। उसका समानधर्मा कोई शेष नहीं रहता।

बहिर्व्याप्ति में साधर्म्य मिलता है। पक्षीकृत विषय के सिवाय भी साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिलती है। 'पर्वत अग्निमान् है'—यह पक्ष है। धूम है, इसलिए वह अग्निमान् है—यह साधन है। इसकी व्याप्ति इस प्रकार बनती है—जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है।' इसका दृष्टान्त बन सकता है, जैसे—रसोईघर या अन्य अग्निमान् प्रदेश।

हेतु : भाव और अभाव

अभाव चार होते हैं—

1. प्राक्
2. प्रध्वंस
3. इतरेतर

4. अत्यन्त।

भाव जैसे वस्तु स्वरूप का साधक है, वैसे अभाव भी। भाव के बिना वस्तु की सत्ता नहीं बनती तो अभाव के बिना भी उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं बनती।

'है'—यह जैसे वस्तु का स्वभाव है, स्व-लक्षण है, असंकीर्ण है, वैसे ही 'न'—यह भी उसका स्वभाव है।

अगर हम वस्तु को केवल भावात्मक मानें तो उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वह होता है। एक क्षण से दूसरे क्षण में, एक देश से दूसरे देश में, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में वस्तु जाती है। यह कालकृत, देशकृत और अवस्थाकृत परिवर्तन वस्तु से सर्वथा भिन्न नहीं होता। दूसरे क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु से पहले क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु का सम्बन्ध जुड़ ही नहीं सकता, अगर अभाव उसका स्वभाव न हो। परिवर्तन का अर्थ ही यही है—भाव और अभाव की एकाश्रयता। 'सर्वथा मिट जाय, सर्वथा नया बन गया' यह परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन यह होता है—'जो मिटे भी, बने भी और फिर भी धारा न टूटे।'

उपादान कारण में इसकी स्पष्ट भावना है। कारण ही कार्य बनता है। कारण का भाव मिटता है, कार्य का अभाव मिटता है तब एक वस्तु बनती है। बनते-बनते उसमें कारण का अभाव और कार्य का भाव आ जाता है। यह कार्यकारण-सापेक्ष भावाभाव एक वस्तुगत होते हैं। वैसे ही स्वगुण-परगुणापेक्ष भावाभाव भी एक वस्तुगत होते हैं। अगर यह न माना जाय तो वस्तु निर्विकार, अनन्त, सर्वात्मक और एकात्मक बन जाएगी। किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्तु में विकार होता है। पहला रूप मिटता है, दूसरा बनता है। मिटनेवाला रूप बननेवाले रूप का प्राक्-अभाव होता है, दूसरे शब्दों में उपादन-कारण कार्य का प्राक्-अभाव होता है। बीज मिटा, अंकुर बना। बीज के मिटने की दशा में ही अंकुर का प्रादुर्भाव होगा। प्राक्-अभाव अनादिसान्त है। जब तक बीज का अंकुर नहीं बनता, तब तक बीज में अंकुर का प्राक्-अभाव रहता है। अंकुर बनते ही प्राक्-अभाव मिट जाता है। जो लोग प्रत्येक अनादि वस्तु को नाश-रहित (अनन्त) मानते हैं, यह अयुक्त है, यह इससे समझा जा सकता है।

प्राक्-अभाव जैसे निर्विकारता का विरोधी है, वैसे ही प्रध्वंसाभाव वस्तु की अनन्तता का विरोधी है। प्रध्वंस-अभाव न हो तो वस्तु बनने के बाद मिटने का नाम ही न ले, वह अनन्त हो जाए। पर ऐसा होता कहां है? दूसरी पर्याय बनती है, पहली मिट जाती है। वृक्ष कार्य है। वह टूटता है, तब उसकी लकड़ी बनती है। दूसरे कार्य में पहले कार्य का प्रध्वंस-रूप अभाव होता है। लकड़ी में वृक्ष का अभाव है या यों कहिए लकड़ी वृक्ष का प्रध्वंसाभाव है। लकड़ी की आविर्भाव दशा में वृक्ष की तिरोभाव-दशा हुई है। प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त है। जिस वृक्ष की लकड़ी बनी, उससे वह वृक्ष कभी नहीं बनता। इससे यह भी समझिए कि प्रत्येक सादि पदार्थ सान्त नहीं होता।

ऊपर की पंक्तियों का सार यह है—वर्तमान दशा पूर्वदशा का कार्य बनती है और उत्तरदशा का कारण। पूर्वदशा उसका प्राक्-अभाव होता है और उत्तरदशा प्रध्वंस-अभाव।

एक बात और स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि द्रव्य सादि-सान्त नहीं होते। सादि-सान्त होती है द्रव्य की पर्याएं (अवस्थाएं)। अनादि-अनन्त नहीं होती किन्तु पूर्व-अवस्था के कारण रूप में अनादि है। उससे बनने वाली वस्तु पहले कभी नहीं बनी। उत्तर अवस्था मिटने के बाद फिर वैसी कभी नहीं बनेगी, इसलिए वह अनन्त है। यह सारी एक ही द्रव्य की पूर्व-उत्तरवर्ती दशाओं की चर्चा है। अब हमें अनेक सजातीय द्रव्यों की चर्चा करनी है। खम्भा पौद्गलिक है और घड़ा भी पौद्गलिक है किन्तु खम्भा घड़ा नहीं है और घड़ा खम्भा नहीं है। दोनों एक जाति के हैं, फिर भी दोनों दो हैं। यह 'इतर-अभाव' आपस में एक-दूसरे का अभाव है। खम्भे में घड़े का और घड़े में खम्भे का अभाव है। यह न हो तो हम वस्तु का लक्षण कैसे बनायें? किसको खम्भा कहें और किसको घड़ा? फिर सब एकमेक बन

जाएंगे। यह अभा सादि-सान्त है। खम्भे के पुद्गल स्कन्ध घड़े के रूप में घड़े के पुद्गल-स्कन्ध खम्भे के रूप में बदल सकते हैं किन्तु सर्वथा विजातीय द्रव्य के लिए यह नियम नहीं। अचेतन चेतन और चेतन अचेतन तीन काल में भी नहीं होते। इसका नाम है—अत्यन्त अभाव। यह अनादि-अनन्त है। इसके बिना चेतन और अचेतन—इन दो अत्यन्त भिन्न पदार्थों की तादात्म्यनिवृत्ति सिद्ध नहीं होती।

साध्य : धर्म और धर्मी

साध्य और साधन का सम्बन्ध मात्र जानने में साध्य धर्म ही होता है। कारण कि धुएं के साथ अग्नि होने का नियम है, वैसे अग्निमान् पर्वत होने का नियम नहीं बनता। अग्नि पर्वत के सिवाय अन्यत्र भी मिलती है। साधन के प्रयोगकाल में साध्य धर्मी होता है। धर्मी तीन प्रकार का होता है—

1. बुद्धि-सिद्ध
2. प्रमाण-सिद्ध
3. उभय-सिद्ध।

प्रमाण से जिसका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध न हो किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो शाब्दिक रूप में मान लिया गया हो, वह बुद्धिसिद्ध धर्मी होता है; जैसे—'सर्वज्ञ है।' अस्तित्व सिद्धि से पहले सर्वज्ञ किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पहले-पहल जब धर्मी बनाया जाता है, तब उसका अस्तित्व बुद्धि से ही माना जाता है। प्रमाण द्वारा उसका अस्तित्व बाद में सिद्ध किया जाएगा। संक्षेप में जिस साध्य का अस्तित्व या नास्तित्व साधना हो, वह धर्मी बुद्धि-सिद्ध या विकल्प-सिद्ध होता है।

जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध हो, वह धर्मी प्रमाण-सिद्ध होता है। 'इस बादल में पानी है' —यहां बादल हमारे प्रत्यक्ष है। उसमें पानी धर्म को सिद्ध करने के लिए हमें बादल, जो धर्मी है, को कल्पना से मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

'मनुष्य मरणशील है' —यहां भ्रियमाण मनुष्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है और मृत तथा मरिष्यमाण मनुष्य बुद्धि-सिद्ध। 'मनुष्य मरणशील है'—इसमें कोई एक खास धर्मी नहीं सभी मनुष्य धर्मी हैं। प्रमाण-सिद्ध धर्मी व्यक्त्यात्मक होता है, उस स्थिति में उभय-सिद्ध धर्मी जात्यात्मक। उभय-सिद्ध धर्मी में सत्ता-असत्ता के सिवाय शेष सब धर्म साध्य हो सकते हैं।

अनुमान को नास्तिक के सिवाय शेष सभी दर्शन प्रमाण मानते हैं। नास्तिक व्याप्ति की निर्णायकता स्वीकार नहीं करते। उसके बिना अनुमान हो नहीं सकता। व्याप्ति को संदिग्ध मानने का अर्थ तर्क से परे हटना होना चाहिए।

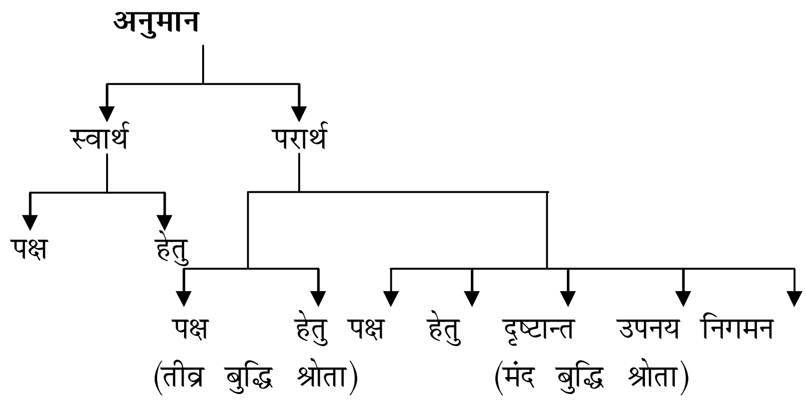

हेतु के प्रकार

हेतु के दो प्रकार होते हैं—उपलब्धि और अनुपलब्धि। ये दोनों विधि और निषेध के साधक हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अनुपलब्धि को विधि-साधक हेतु के रूप में स्थान नहीं दिया है।

'परीक्षामुख' में विधि-साधक छह उपलब्धियों एवं तीन अनुपलब्धियों का तथा निषेध-साधक छह उपलब्धियों एवं सात अनुपलब्धियों का निरूपण है। इसका विकास प्रमाणनयतत्त्वालोक में हुआ है। वहां विधि-साधक छह उपलब्धियों एवं पांच अनुपलब्धियों का तथा निषेध-साधक सात-सात उपलब्धियों एवं अनुपलब्धियों का उल्लेख है। प्रस्तुत वर्गीकरण 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' के अनुसार है।

विधि-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से अविरुद्ध रूप में उपलब्ध होने के कारण जो हेतु साध्य की सत्ता को सिद्ध करता है, वह अविरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धि-उपलब्धि के छह प्रकार हैं—

1. अविरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि—

साध्य—शब्द परिणामी है।

हेतु—क्योंकि वह प्रयत्न-जन्य है। यहां प्रयत्न-जन्यत्व व्याप्य है। वह परिणामित्व से अविरुद्ध है। इसलिए प्रयत्न-जन्यत्व से शब्द का परिणामित्व सिद्ध होता है।

2. अविरुद्ध-कार्य उपलब्धि—

साध्य—इस पर्वत पर अग्नि है।

हेतु—क्योंकि धुआं है।

धुआं अग्नि का कार्य है, वह अग्नि से अविरुद्ध है। इसलिए धूम कार्य से पर्वत पर ही अग्नि की सिद्धि होती है।

3. अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

साध्य—वर्षा होगी।

हेतु—क्योंकि विशिष्ट प्रकार के बादल मंडरा रहे हैं।

बादलों की विशिष्ट-प्रकारता वर्षा का कारण है और उसका विरोधी नहीं है।

4. अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के बाद तिष्य नक्षत्र का उदय होगा।

हेतु—क्योंकि पुनर्वसु का उदय हो चुका है।

'पुनर्वसु का उदय' यह हेतु 'तिष्योदय' साध्य का पूर्वचर है और उसका विरोधी नहीं है।

5. अविरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्व-फाल्गुनी का उदय हुआ था।

हेतु—क्योंकि उत्तर-फाल्गुनी का उदय हो चुका है।

उत्तर-फाल्गुनी का उदय पूर्व-फाल्गुनी के उदय का निश्चित उत्तरवर्ती है।

6. अविरुद्ध-सहचर-उपलब्धि—

साध्य—इस आम में रूप विशेष है।

हेतु—क्योंकि रस विशेष आस्वाद्यमान है।

यहां रस (हेतु) रूप (साध्य) का नित्य सहचारी है।

निषेध-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से विरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसके अभाव को सिद्ध करता है, वह विरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धोपलब्धि के सात प्रकार हैं—

1. स्वभाव-विरुद्ध-उपलब्धि—

साध्य—सर्वथा एकान्त नहीं है।

हेतु—क्योंकि अनेकान्त उपलब्ध हो रहा है।

अनेकान्त—एकान्त स्वभाव के विरुद्ध है।

2. विरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि—

साध्य—इस पुरुष का तत्त्व में निश्चय नहीं है।

हेतु—क्योंकि संदेह है।

'संदेह है' यह 'निश्चय नहीं है' इसका व्याप्य है, इसलिए संदेह-दशा में निश्चय का अभाव होगा। ये दोनों विरोधी हैं।

3. विरुद्ध-कार्य-उपलब्धि—

साध्य—इस पुरुष का क्रोध शान्त नहीं हुआ है।

हेतु—क्योंकि मुख-विकास हो रहा है।

4. विरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

साध्य—यह महर्षि असत्य नहीं बोलता।

हेतु—क्योंकि इसका ज्ञान राग-द्वेष की कलुषता से रहित है।

यहां असत्य-वचन का विरोधी सत्य-वचन है और उसका कारण राग-द्वेष-रहित ज्ञान-सम्पन्न होता है।

5. अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होता।

हेतु—क्योंकि अभी रोहिणी का उदय है।

यहां प्रतिषेध्य पुष्य नक्षत्र के उदय से विरुद्ध पूर्वचर रोहिणी नक्षत्र के उदय की उपलब्धि है। रोहिणी के पश्चात् मृगशीर्ष, आर्द्रा और पुनर्वसु का उदय होता है। फिर पुष्य का उदय होता है।

6. विरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले मृगशिरा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि अभी पूर्व-फाल्गुनी का उदय है।

यहां मृगशीर्ष प्रतिषेध्य है। पूर्वा-फाल्गुनी का उदय उसका विरोधी है। मृगशिरा के पश्चात् क्रमशः आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा और पूर्व फाल्गुनी का उदय होता है।

7. विरुद्ध-सहचर-उपलब्धि—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान नहीं है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन है।

मिथ्या-ज्ञान और सम्यग् दर्शन एक साथ नहीं रह सकते।

निषेध-साधक अनुपलब्धि-हेतु

प्रतिषेध्य से अविरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसका प्रतिषेध्य सिद्ध करता है, वह अविरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धानुपलब्धि के सात प्रकार हैं—

1. अविरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि—

साध्य—यहां घट नहीं है।

हेतु—क्योंकि उसका दृश्य स्वभाव उपलब्ध नहीं हो रहा है।

चक्षु का विषय होना घट का स्वभाव है। यहां इस अविरुद्ध स्वभाव से ही प्रतिषेध्य का प्रतिषेध है।

2. अविरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि—

साध्य—यहां पनस नहीं है।

हेतु—क्योंकि वृक्ष नहीं है।

मुख-विकार क्रोध की विरोधी वस्तु का कार्य है—

3. विरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

वृक्ष व्यापक है, पनस व्याप्य। यह व्यापक की अनुपलब्धि में व्याप्य का प्रतिषेध है।

4. अविरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि—

साध्य—यहां अप्रतिहत शक्तिवाले बीज नहीं है।

हेतु—क्योंकि अंकुर नहीं दीख रहे हैं।

यह अविरोधी कार्य की अनुपलब्धि के कारण का प्रतिषेध है।

5. अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

साध्य—इस व्यक्ति में प्रशमभाव नहीं है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है।

प्रशमभाव—सम्यग् दर्शन का कार्य है। यह कारण के अभाव में कार्य का प्रतिषेध है।

6. अविरुद्ध-पूर्वचर-अनुपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् स्वाति का उदय नहीं होगा।

हेतु—क्योंकि अभी चित्रा का उदय नहीं है।

यह चित्रा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव द्वारा स्वाति के उत्तरवर्ती उदय का प्रतिषेध है।

7. अविरुद्ध-उत्तरचर-अनुपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वभाद्रपदा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि उत्तरभाद्रपदा का उदय नहीं है।

यह उत्तरभाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव के द्वारा पूर्वभाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय का प्रतिषेध है।

8. अविरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि—

साध्य—इसे सम्यग् ज्ञान प्राप्त नहीं है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन नहीं है।

सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन दोनों नियत सहचारी हैं। इसलिए यह एक के अभाव में दूसरे का प्रतिषेध है।

विधि-साधक अनुपलब्धि-हेतु

साध्य के विरुद्ध रूप की उपलब्धि न होने के कारण जो हेतु उसकी सत्ता को सिद्ध करता है, वह विरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धानुपलब्धि हेतु के पांच प्रकार हैं—

1. विरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि—

साध्य—इसके शरीर में योग है।

हेतु—क्योंकि स्वस्थ प्रवृत्तियां नहीं मिल रही हैं। स्वस्थ प्रवृत्तियों का भाव रोग-विरोधी कार्य है। उसकी यहां अनुपलब्धि है।

2. विरुद्ध-कारण-अनुपलब्धि—

साध्य—यह मनुष्य कष्ट में फंसा हुआ है।

हेतु—क्योंकि इसे इष्ट का संयोग नहीं मिल रहा है। कष्ट के भाव का विरोधी कारण इष्ट-संयोग है, वह यहां अनुपलब्ध है।

हेतु

- **भाव (विधि या उपलब्धि)**
  - **विधिसाधक (अविरुद्ध)**
    - 1. स्वभाव
    - 2. सहचर
    - 3. व्याप्य
    - 4. पूर्वचर
    - 5. उत्तरचर
    - 6. कार्य
    - 7. कारण
  - **प्रतिषेधसाधक (विरुद्ध)**
    - 8. स्वभाव
    - 9. व्यापक
    - 10. कार्य
    - 11. कारण
    - 12. पूर्वचर
    - 13. उत्तरचर
    - 14. सहचर
- **अभाव (निषेध या अनुपलब्धि)**
  - **प्रतिषेधसाधक (अविरुद्ध)**
    - 15. स्वभाव
    - 16. व्यापक
    - 17. कार्य
    - 18. कारण
    - 19. पूर्वचर
    - 20. उत्तरचर
    - 21. सहचर
  - **विधिसाधक (विरुद्ध)**
    - 22. कार्य
    - 23. कारण
    - 24. व्यापक
    - 25. स्वभाव
    - 26. सहचर

3. विरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि—

साध्य—वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है।

हेतु—क्योंकि एकान्त-स्वभाव की अनुपलब्धि है।

4. विरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि—

साध्य—यहां छाया है।

हेतु—क्योंकि उष्णता नहीं है।

5. विरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान प्राप्त है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं है।

आगम-प्रमाण

आगम

आगम श्रुतज्ञान या शब्द-ज्ञान है। उपचार से आप्तवचन या द्रव्यश्रुत को भी आगम कहा जाता है किन्तु वास्तव में आगम वह ज्ञान है जो श्रोता या पाठक को आप्त की मौखिक या लिखित वाणी से होता है।

वैशेषिक शब्द-प्रमाण को अनुमान का ही रूप मानते हैं। जैनदर्शन को यह बात मान्य नहीं है। पूर्व-अभ्यास की स्थिति में शब्द-ज्ञान व्याप्ति-निरपेक्ष होता है। एक व्यक्ति खोटे-खरे सिक्के को जानने वाला है। वह उसे देखते ही पहचान लेता है। उसे ऊहापोह की आवश्यकता नहीं होती। यही बात शब्द-ज्ञान के लिए है। शब्द सुनते ही सुनने वाला समझ जाता है। वह अनुमान नहीं होता। शब्द सुनने पर उसका अर्थ-बोध न हो, उसके लिए व्याप्ति का सहारा लेना पड़े तो वह अवश्य अनुमान होगा, शब्द नहीं। प्रत्यक्ष के लिए भी यही बात है। प्रत्येक वस्तु के लिए 'यह अमुक होना चाहिए' ऐसा विकल्प बने, तब वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होगा, अनुमान होगा। आगम व्याप्ति-निरपेक्ष होने के कारण अनुमान के अन्तर्गत नहीं आता।

जैन-दृष्टि के अनुसार आगम स्वत:प्रमाण, पौरुषेय और आप्तप्रणीत होता है। वचन-रचना को सूत्रागम, ज्ञान को अर्थागम और समन्वित रूप में दोनों को उभयागम कहा जाता है। प्रकारान्तर से आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम, यों तीन प्रकार का आगम होता है। उपदेश के बिना अपने आप अर्थ-ज्ञान होता है, वह आत्मागम है। वह तीर्थंकर या स्वयम्बुद्ध आदि के होता है। उनकी उपदेश-वाणी से शिष्य के सूत्र की अपेक्षा आत्मागम और अर्थ की अपेक्षा अनन्तरागम होता है। तीसरी कक्षा में प्रशिष्य के सूत्र की अपेक्षा अनन्तरागम और अर्थ की अपेक्षा परम्परागम होता है। चौथी कक्षा में सूत्र और अर्थ दोनों परम्परागम होते हैं।

ज्ञाता, ज्ञेय और वचन—इन तीनों की संहिता आगम का समग्र रूप है।

ज्ञाता ज्ञान कराने वाला और करने वाला दोनों होते हैं। ज्ञेय पहले ने जान रखा है, दूसरे को जानना है। वचन पहले के ज्ञान का प्रकाश है और दूसरे के ज्ञान का साधन। ज्ञेय अनन्तशक्तियों, गुणों, अवस्थाओं का अखण्ड-पिण्ड होता है। उसका स्वरूप अनेकान्तात्मक होता है। ज्ञेय आगम की रीढ़ होता है, फिर भी उसके आधार पर आगम के विभाग नहीं होते। ज्ञाता की दृष्टि से इसका एक भेद होता है—अर्थागम। वचन की दृष्टि से इसके तीन विभाग बनते हैं—

1. स्याद्वाद—प्रमाण-वाक्य।
2. सद्‌वाद—नय-वाक्य।
3. दुर्नय—मिथ्या श्रुत।

दूसरे शब्दों में—

1. अनेकान्त वचन।
2. सत्-एकान्त वचन।
3. असत्-एकान्त वचन।

वाक्-प्रयोग

वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से भाषा बनती है। भाषा अनक्षर भी होती है पर वह स्पष्ट नहीं होती। स्पष्ट भाषा अक्षरात्मक ही होती है। अक्षर तीन प्रकार के हैं—

1. संज्ञाक्षर—अक्षर की लिपि।
2. व्यंजनाक्षर—अक्षर का उच्चारण।
3. लब्ध्यक्षर—अक्षर का ज्ञान।

आगम

सूत्र	**अर्थ**	**सूत्र-अर्थ**
1. आत्मागम (गणधर)	1. आत्मागम (तीर्थंकर)	1. आत्मागम
2. अनन्तरागम (शिष्य)	2. अनन्तरागम (गणधर)	2. अनन्तरागम
3. परम्परागम (प्रशिष्य)	3. परम्परागम (शिष्य)	3. परम्परागम

नोटः तीर्थंकर की अपेक्षा—अर्थ—आत्मागम।
गणधर की अपेक्षा—सूत्र—आत्मागम, अर्थ—अनन्तरागम।
गणधर-शिष्य की अपेक्षा—सूत्र—अनन्तरागम, अर्थ—परम्परागम।
तद्-शिष्य शिष्य की अपेक्षा—सूत्र—परम्परागम, अर्थ—परम्परागम।

शब्द तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक और मिश्र। जिनकी व्युत्पत्ति नहीं होती, वे शब्द रूढ होते हैं। गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि के योग से बनने वाले शब्द 'यौगिक' कहलाते हैं। जिनमें दो शब्दों का योग होने पर भी परावृत्ति नहीं हो सकती, वे मिश्र हैं।

नाम और क्रिया के एकाश्रयी योग को वाक्य कहते हैं। शब्द या वचन ध्वनि-रूप पौद्गलिक परिणाम होता है। वह ज्ञापक या बताने वाला होता है। वह चेतन के वाक्प्रयत्न से पैदा होता है और अवयव-संयोग से सार्थक भी होता है और निरर्थक भी। अचेतन के संघात और भेद से पैदा होता है, वह निरर्थक ही होता है, अर्थ-प्रेरित नहीं होता।

शब्द की अर्थ-बोधकता

शब्द अर्थ का बोधक बनता है। इसके दो हेतु हैं—स्वाभाविक और समय या संकेत। नैयायिक स्वाभाविक शक्ति को स्वीकार नहीं करते। वे केवल संकेत को ही अर्थज्ञान का हेतु मानते हैं। इस पर जैन-दृष्टि यह है कि यदि शब्द में अर्थ-बोधक शक्ति सहज नहीं होती तो उसमें संकेत भी नहीं किया जा सकता। संकेत रूढ़ि है, वह व्यापक नहीं। 'अमुक वस्तु के लिए अमुक शब्द'—यह मान्यता है। देश-काल के भेद से यह अनेक भेद वाली होती है। एक देश में एक शब्द का अर्थ कुछ ही होता है और दूसरे देश में कुछ ही। हमें इस संकेत या मान्यता के आधार पर दृष्टि डालनी चाहिए। संकेत का आधार है शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन शक्ति। शब्द अर्थ को बता सकता है। किसको बताए, यह बात संकेत पर निर्भर है। संकेत ज्ञातकालीन और अज्ञातकालीन दोनों प्रकार के होते हैं। अर्थ की अनेकता के कारण शब्द के अनेक रूप बनते हैं जैसे—जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, क्रियावाचक आदि-आदि।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है। वाच्य से वाचक न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सर्वथा भेद होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान नहीं होता। वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचकपर्याप्त वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्यपर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनों में कथंचित् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नहीं कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है। वाचक बोध कराने की पर्याय में होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय में।

वाच्य-वाचकभाव की प्रतीति तर्क के द्वारा होती है। एक आदमी ने अपने सेवक से कहा—'रोटी लाओ।' सेवक रोटी लाया। एक तीसरा व्यक्ति जो रोटी को नहीं जानता, वह दोनों की प्रवृत्ति देखकर जान जाता है कि यह वस्तु 'रोटी' शब्द के द्वारा वाच्य है। इसकी व्याप्ति यों बनती है—'वस्तु के प्रति जो शब्दानुसारी प्रवृत्ति होती है, वह वाच्य-वाचक भाववाली होती है। 'जहां वाच्यवाचक भाव नहीं होता, वहां शब्द के अनुसार अर्थ के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती।'

शब्द का याथार्थ्य और अयाथार्थ्य

शब्द पौद्‌गलिक होता है। वह अपने आप में यथार्थ या अयथार्थ कुछ भी नहीं होता। वक्ता के द्वारा उसका यथार्थ या अयथार्थ प्रयोग होता है। यथार्थ प्रयोग के स्याद्वाद और नय—ये दो प्रकार हैं। दुर्नय इसलिए आगमाभास होता है कि वह यथार्थ प्रयोग नहीं होता।

वचन की सत्यता के दो पहलू हैं—प्रयोगकालीन और अर्थग्रहणकालीन। एक वक्ता पर निर्भर है, दूसरा श्रोता पर। वक्ता यथार्थ-प्रयोग करता है, वह सत्य है। श्रोता यथार्थ-ग्रहण करता है, वह सत्य है। ये दोनों सत्य अपेक्षा से जुड़े हुए हैं।

सत्य-वचन की दस अपेक्षाएं

सत्य-वचन के लिए दस अपेक्षाएं हैं—

1.जनपद, देश या राष्ट्र की अपेक्षा सत्य।

1. सम्मत या रूढ़ि-सत्य।
2. स्थापना की अपेक्षा सत्य।
3. नाम की अपेक्षा सत्य।
4. रूप की अपेक्षा सत्य।
5. प्रतीत्य-सत्य—दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य।

जैसे—कनिष्ठा की अपेक्षा अनामिका बड़ी और मध्यमा की अपेक्षा छोटी है। एक ही वस्तु छोटी और बड़ी दोनों हो; यह विरुद्ध बात है, ऐसा आरोप आता है किन्तु यह ठीक नहीं। एक ही वस्तु का छोटापन और मोटापन दोनों तात्त्विक हैं और परस्पर विरुद्ध भी नहीं है। इसलिए नहीं हैं कि दोनों के निमित्त दो हैं। यदि अनामिका को एक ही कनिष्ठा या मध्यमा की अपेक्षा छोटी-बड़ी कहा जाय तब विरोध आता है किन्तु 'छोटी की अपेक्षा बड़ी और बड़ी की अपेक्षा छोटी' इसमें कोई विरोध नहीं आता। एक निमित्त से परस्पर-विरोधी दो कार्य नहीं हो सकते किन्तु दो निमित्त से वैसे दो कार्य होने में कोई आपत्ति नहीं। छोटापन और मोटापन तात्त्विक नहीं है; ऋजुता और वक्रता की भांति दूसरे निमित्त की अपेक्षा रखे बिना प्रतीति नहीं होती। इसलिए उनकी प्रतीति दूसरे की अपेक्षा से होती है, इसलिए वे काल्पनिक हैं, ऐसी शंका होती है पर समझने पर बात ऐसी नहीं है। वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं—

- परप्रतीति-सापेक्ष—सहकारी द्वारा व्यक्त।
- परप्रतीति-निरपेक्ष—स्वत: व्यक्त।

अस्तित्व आदि गुण स्वत: व्यक्त होते हैं। छोटा, बड़ा आदि धर्म सहकारी द्वारा व्यक्त होते हैं। गुलाब में सुरभि अपने आप व्यक्त है। पृथ्वी में गन्ध पानी के संयोग से व्यक्त होती है।

छोटा, बड़ा—ये धर्म काल्पनिक हों तो एक वस्तु में दूसरी वस्तु के समावेश की (बड़ी वस्तु में छोटी के समाने की) बात अनहोनी होती। इसलिए हमें मानना चाहिए कि सहकारी व्यंग्य धर्म काल्पनिक नहीं है। वस्तु में अनन्त परिणतियों की क्षमता होती है। जैसा-जैसा सहकारी का सन्निधान होता है वैसा ही उसका रूप बन जाता है। कोई व्यक्ति निकट से लम्बा और वही दूर से ठिगना

दीखता है, पर वह लम्बा और ठिगना एक साथ नहीं हो सकता। अत: लम्बा और ठिगना मनस् के विचार मात्र हैं। बर्कले का यह मत उचित नहीं है। लम्बा और ठिगना ये केवल मनस् के विचार होते तो दूरी और सामीप्य सापेक्ष नहीं होते। उक्त दोनों धर्म सापेक्ष हैं—एक व्यक्ति जैसे लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा ठिगना और ठिगने की अपेक्षा लम्बा हो सकता है वैसे ही एक व्यक्ति दूरी की अपेक्षा ठिगना औ सामीप्य की अपेक्षा लम्बा हो सकता है। लम्बाई और ठिगनापन एक साथ नहीं होते, भिन्न-भिन्न सहकारियों द्वारा भिन्न-भिन्न कल में अभिव्यक्त होते हैं। सामीप्य की अपेक्षा लम्बाई सत्य है और दूरी की अपेक्षा ठिगनापन।

6. व्यवहारसत्य—औपचारिक सत्य—पर्वत जल रहा है।
7. भावसत्य—व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से सत्य—दूध सफेद है।
8. योगसत्य—सम्बन्ध सत्य।
9. औपम्य-सत्य।

प्रत्येक वस्तु को अच्छी-बुरी, उपयोगी-अनुपयोगी, हितकर-अहितकर जो कहा जाता है वह देश, काल, स्थिति की अपेक्षा से सत्य है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—'सत्यवादी के लिए विभज्यवाद का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है।' वे स्वयं इसी मार्ग पर चले। आत्मा, लोक आदि प्रश्नों पर मौन नहीं रहे। उन्होंने इन प्रश्नों को महात्मा बुद्ध की भांति अव्याकृत नहीं कहा और न संजय वेलट्ठीपुत्त की भांति बीच में लटकाए रखा। उन्होंने सत्य के अनेक रूपों का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया। लोक में जितने द्रव्य हैं उतने ही थे और रहेंगे। उनमें न अणु मात्र कम होता है और न अधिक। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश केवल अवस्था-परिवर्तन हैं। जो स्थिति आत्मा की है, वही एक परमाणु या पौद्‌गलिक-स्कन्ध या शरीर की है। आत्मा एकान्त नित्य नहीं है, शरीर एकान्त अनित्य नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का परिवर्तन होता रहता है। पहला रूप जन्म या उत्पाद और दूसरा रूप मृत्यु या विनाश है। विच्छेदनय की दृष्टि से पदार्थ सान्त है। अविच्छेदनय की दृष्टि से चेतन और अचेतन सभी वस्तुएं सदा अपने रूप में रहती हैं अत: अनन्त हैं। प्रवाह की अपेक्षा पदार्थ अनादि हैं, स्थिति (एक अवस्था) की अपेक्षा सादि। लोक व्यक्ति-संख्या की दृष्टि से एक है, इसलिए सान्त हैं। लोक की लम्बाई-चौड़ाई असंख्य-योजन कोड़ाकोड़ी है, इस क्षेत्र-दृष्टि से सान्त है। काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है।

इस प्रकार एक वस्तु की अनेक स्थिति-जन्य अनेकरूपता स्वीकार कर भगवान् महावीर ने विरुद्ध प्रतीत होने वाले मतवाद एक सूत्र में पिरो दिये, तात्त्विक चर्चा के निर्णय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। भगवान् से पूछा गया—'भगवन्! जीव परभव को जाते समय स-इन्द्रिय जाता है या अन-इन्द्रिय?'

भगवान्—स-इन्द्रिय भी जाता है और अन-इन्द्रिय भी।

गौतम—कैसे, भगवन्?

भगवान्—'ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय और पौद्‌गलिक इन्द्रिय की अपेक्ष अन-इन्द्रिय।'

पौद्‌गलिक इन्द्रियां स्थूल शरीर से और ज्ञान इन्द्रियां आत्मा से सम्बद्ध होती हैं। स्थूल शरीर छूटने पर पौद्‌गलिक इन्द्रियां नहीं रहती, उनकी अपेक्षा परभवगामी जीव अन-इन्द्रिय जाता है। ज्ञान शक्ति आत्मा में बनी रहती है, इस दृष्टि से वह स-इन्द्रिय जाता है।

भगवान् महावीर शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के समन्वयकार थे। उनसे गौतम ने पूछा—'भगवन्! दु:ख आत्मकृत है, परकृत है या उभयकृत?'

भगवान् ने कहा—'दु:ख आत्मकृत है, परकृत नहीं है, उभयकृत नहीं है।'

महात्मा बुद्ध शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को सत्य नहीं मानते थे।

उनसे पूछा गया—

'भगवन्! क्या दु:ख स्वयंकृत है?'

'काश्यप! ऐसा नहीं है।'

'क्या दुःख परकृत है?'

'नहीं।'

'क्या दुःख स्वकृत और परकृत है?'

'नहीं।'

'क्या दुःख अ-स्वकृत अ-परकृत है?'

'नही।'

'तब क्या है? आप तो सभी प्रश्नों का उत्तर नकार में देते हैं, ऐसा क्यों?'

'दुःख स्वकृत है, ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जो करता है, वही भोगता है, यह शाश्वतवाद है। दुःख परकृत है ऐसा कहने का अर्थ होता है कि दुःख करने वाला कोई दूसरा है और उसे भोगने वाला कोई दूसरा, यह उच्छेदवाद है।'

उन्होंने इन दोनों को छोड़कर मध्यम मार्ग—प्रतीत्य-समुत्पाद का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि में 'उत्तर पूर्व से सर्वथा असम्बद्ध हो, अपूर्व हो यह बात भी नहीं, किन्तु पूर्व के अस्तित्व के कारण ही उत्तर होता है। पूर्व की सारी शक्ति उत्तर में आ जाती है। पूर्व का कुल संस्कार उत्तर को मिल जाता है। अतएव पूर्व अब उत्तर रूप में अस्तित्व में है। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नहीं, अभिन्न अव्याकृत है, क्योंकि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है। महात्मा बुद्ध को ये दोनों वाद मान्य नहीं थे, अतएव ऐसे प्रश्नों का उन्होंने अव्याकृत कहकर उत्तर दिया।

भगवान् महावीर भी शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध थे। इस विषय में दोनों की भूमिका एक थी, फिर भी भगवान् महावीर ने कहा—'दुःख आत्मकृत है।' कारण कि वे दोनों इन वादों से दूर भागने वाले नहीं थे। उनकी अनेकान्तदृष्टि में एकान्त शाश्वत या उच्छेद जैसी कोई वस्तु थी ही नहीं। दुःख के कारण और भोग में जैसे आत्मा की एकता है वैसे ही करणकाल में और भोगकाल में उसकी अनेकता है। आत्मा की जो अवस्था करणकाल में होती है, वही भोगकाल में नहीं होती, यह उच्छेद है। करण और भोग दोनों एक आधार में होते हैं, यह शाश्वत है। शाश्वत और उच्छेद के भिन्न-भिन्न रूप कर जो विकल्प पद्धति से निरूपण किया जाता है, वही विभज्यवाद है।

इस विकल्प-पद्धति के समर्थक अनेक संवाद उपलब्ध होते हैं—

सोमिल—'भगवन्! क्या आप एक हैं या दो?'

'अक्षय, अव्यय, अवस्थित हैं या परिवर्तनशील?'

भगवान्! —'सोमिल! मैं एक भी हूं और दो भी।'

सोमिल—'यह कैसे, भगवन्?'

भगवान्—'द्रव्य की दृष्टि से एक हूं, सोमिल! ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से दो। आत्मप्रदेश की दृष्टि से मैं अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हूं और भूतभावी काल में विविध विषयों पर होने वाले परिणाम की दृष्टि से परिवर्तनशील भी हूं।'

यह शंकित भाषा नहीं है। तत्त्व-निरूपण में उन्होंने निश्चित भाग का प्रयोग किया और शिष्यों को भी ऐसा ही उपदेश दिया। छद्मस्थ मनुष्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, शरीर-रहित जीव आदि को सर्वभाव से नहीं जान सकते।

अतीत, वर्तमान या भविष्य की जिस स्थिति की निश्चित जानकारी न हो, तब 'ऐसे ही है' इस प्रकार निश्चित भाषा नहीं बोलनी चाहिए और यदि असंदिग्ध जानकारी हो तो 'एवमेव' कहना चाहिए। भावी कार्य के बारे में निश्चयपूर्वक नहीं बोलना चाहिए। न मालूम जो काम करने का संकल्प है, वह अधूरा रह जाए। इसलिए भावी कार्य के लिए 'अमुक कार्य करने का विचार है' या 'यह होना संभव

है'—यह भाषा होनी चाहिए। यह कार्य से सम्बन्धित सत्य-भाषा की मीमांसा है, तत्त्व-निरूपण से इसका सम्बन्ध नहीं है। तत्त्व-प्रतिपादन के अवसर पर अपेक्षापूर्वक निश्चय भाषा बोलने में कोई आपत्ति नहीं है।

महात्मा बुद्ध ने कहा—

1. मेरी आत्मा है।
2. मेरी आत्मा नहीं है।
3. मैं आत्मा को आत्मा समझता हूं।
4. मैं अनात्मा को अनात्मा समझता हूं।
5. यह जो मेरी आत्मा है, वह पुण्य और पाप कर्म के विपाक की भोगी है।
6. यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामिधर्मा है—जैसी है वैसी सदैव रहेगी।

इन छह दृष्टियों में फंसकर अज्ञानी जीव जरा-मरण से मुक्त नहीं होता, इसलिए साधक को इनमें फंसना उचित नहीं। उनके विचारानुसार—'मैं भूतकाल में क्या था? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊंगा? मैं क्या हूं? यह सत्त्व कहां से आया? यह कहां जाएगा? —इस प्रकार का चिन्तन 'अयोनिसो मनसिकार' —विचार का अयोग्य ढंग है। इससे नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिगत होते हैं।'

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत था। उन्होंने कहा—

1. आत्मा नहीं है।
2. आत्मा नित्य नहीं है।
3. आत्मा कर्म की कर्त्ता नहीं है।
4. आत्मा कर्म-फल की भोक्ता नहीं है।
5. निर्वाण नहीं है।
6. निर्वाण का उपाय नहीं है।

—ये छह मिथ्यात्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।

1. आत्मा है।
2. आत्मा नित्य है।
3. आत्मा कर्म की कर्त्ता है।
4. आत्मा कर्म-फल की भोक्ता है।
5. निर्वाण है।
6. निर्वाण के उपाय हैं।

—ये छह सम्यक्त्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।

'कई व्यक्ति यह नहीं जानते—'मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? कहां जाऊंगा? जो अपने आप या पर-व्याकरण से यह जानता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।

इस दृष्टि को लेकर भगवान् महावीर ने तत्त्व-चिन्तन की पृष्ठभूमि पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—'जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव-अजीव दोनों को नहीं जानता; वह संयम को कैसे जान सकेगा?' 'जिसे जीव-अजीव, त्रस-स्थावर का ज्ञान नहीं, उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान हैं और जिसे इनका ज्ञान है, उसके प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।' यही कारण है कि भगवान् महावीर की परम्परा में तत्त्व-चिन्तन की अनेक धाराएं अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में वही।

आत्मा, कर्म, गति, आगति, भाव, अपर्याप्त, पर्याप्त आदि के बारे में ऐसा मौलिक चिन्तन है, जो जैनदर्शन की स्वतन्त्रता का स्वयम्भू प्रमाण है।

जैनदर्शन में प्रतिपादन की पद्धति में अव्याकृत का स्थान है—वस्तु मात्र कथंचित् अवक्तव्य है। तत्त्व-चिन्तन में कोई वस्तु अव्याकृत नहीं। उपनिषद् के ऋषि परमब्रह्म को मुख्यतया 'नेति-नेति' द्वारा बताते हैं। वेदान्त में वह अनिर्वचनीय है। 'नेति-नेति' से अभाव की शंका न आए, इसलिए ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। तात्पर्य में वह अनिर्वचनीय ही है क्योंकि वह वाणी का विषय नहीं बनता।

बौद्धदर्शन में लोक शाश्वत है या अशाश्वत? सान्त है या अनन्त? जीव और शरीर भिन्न या अभिन्न? मृत्यु के बाद तथागत होते हैं यो नहीं होते? इन प्रश्नों को अव्याकृत कहा है। बौद्धदर्शन का यह निषेधक दृष्टिकोण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों का अस्वीकार है। इसमें जैन दृष्टि का मतद्वैध नहीं है किन्तु वह इससे आगे बढ़ती है। भगवान् महावीर ने शाश्वत और उच्छेद—दोनों का समन्वय कर विध्यायक दृष्टिकोण सामने रखा। वही अनेकान्त-दर्शन और स्याद्वाद है।

प्रमाण-समन्वय

उपमान

सादृश्य प्रत्यभिज्ञा जैन न्याय का उपमान है।

अर्थापत्ति

अनुमान में जैसे साध्य-साधन का निश्चित अविनाभाव होता है, वैसे ही अर्थापत्ति में भी होता है। पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता—इसका अर्थ यह आया कि वह रात को अवश्य खाता है। इसके साध्य देवदत्त के रात्रि-भोजन के साथ 'पुष्टत्व' साधन का निश्चित अविनाभाव है। इसलिए यह अनुमान से भिन्न नहीं है, कोरा कथन-भेद है।

अभाव

अभाव प्रमाण दो विरोधियों में से एक के भाव से दूसरे का अभाव और एक के अभाव से दूसरे का भाव सिद्ध करने वाला है। केवल भूतल देखने से घट का ज्ञान नहीं होता। भूतल में घट, पट आदि अनेक वस्तुओं का अभाव हो सकता है, इसलिए घट-रिक्त भूतल में घट के अभाव का प्रतियोगी जो घट है, उसका स्मरण करने पर ही अभाव द्वारा भूतल में घटाभाव जाना जा सकता है।

जैन दृष्टि से—1. 'वह अघट भूतल है', 2. यह वही अघट भूतल है', 3. 'जो अग्निमान् नहीं होता, वह धूमवान् नहीं होता'—इसका तर्क में, 4. 'इस भूतल में घट नहीं है, क्योंकि यहां घट का जो स्वभाव मिलना चाहिए, वह नहीं मिल रहा है'—इसका अनुमान में, तथा 5. 'सोहन घर पर नहीं है', इसका आगम में समावेश हो जाता है।

सामान्य अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है। कोई भी वस्तु केवल सद्रूप या केवल असद्रूप नहीं है। वस्तु-मात्र सत्-असत्-रूप (उभयात्मक) है। प्रत्यक्ष के द्वारा जैसे सद्भाव का ज्ञान होता है वैसे असद्भाव का भी। कारण स्पष्ट है। ये दोनों इतने घुले-मिले हैं कि किसी एक को छोड़कर दूसरे को जाना नहीं जा सकता। एक वस्तु के भाव से दूसरी का अभाव और एक के अभाव से दूसरी का भाव निश्चित चिन्ह के मिलने या न मिलने पर निर्भर है।

स्वस्तिक चिन्ह वाली पुस्तक के लिए जैसे स्वस्तिक उपलब्धि-हेतु बनता है, वैसे ही अचिन्हित पुस्तक के लिए चिन्हाभाव अनुपलब्धि-हेतु बनता है, इसलिए यह अनुमान की परिधि से बाहर नहीं जाता।

सम्भव

अविनाभावी अर्थ—जिसके बिना दूसरा न हो सके, वैसे अर्थ की सत्ता ग्रहण करने के द्वारा दूसरे अर्थ की सत्ता बतलाना 'सम्भव' है। इसमें निश्चित अविनाभाव है—पौर्वापर्य, साहचर्य या व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसीलिए यह भी अनुमान-परिवार का ही एक सदस्य है।

ऐतिह्य

प्रवाद-परम्परा का आदि-स्थान न मिले, वह ऐतिह्य है। जो प्रवाद-परम्परा अयथार्थ होती है, वह अप्रमाण है और जिस प्रवाद-परम्परा का आदि-स्रोत आप्त पुरुष की वाणी मिले, वह आगम से अतिरिक्त नहीं है।

प्रातिभ

प्रातिभ के बारे में जैनाचार्यों में दो विचार-परम्पराएं मिलती हैं। वादिदेव सूरि आदि जो न्याय-प्रधान रहे, उन्होंने इसका प्रत्यक्ष और अनुमान में समावेश किया और हरिभद्र सूरि, उपाध्याय यशोविजयजी आदि जो न्यय के साथ-साथ योग के क्षेत्र में भी चले, उन्होंने इसे प्रतयक्ष और श्रुत के बीच का माना।

पहली परम्परा के अनुसार इन्द्रिय, हेतु और शब्द-व्यापार निरपेक्ष जो स्पष्ट आत्म-प्रतिभान होता है, वह मानस-प्रत्यक्ष में चला जाता है।

प्रसाद और उद्वेग के निश्चित लिंग से जो प्रिय-अप्रिय फल-प्राप्ति का प्रतिभान होता है, वह अनुमान की श्रेणी में है।

दूसरी परम्परा—प्रातिभ-ज्ञान न केवलज्ञान है, न श्रुतज्ञान और न ज्ञानान्तर। इसकी दशा ठीक अरुणोदय-संध्या जैसी है। अरुणोदय न दिन है, न रात और न दिन-रात के अतिरिक्त है। यह आकस्मिक प्रत्यक्ष है और यह उत्कृष्ट क्षयोपशम (निरावरण दशा) यह आकस्मिक प्रत्यक्ष है और यह उत्कृष्ट क्षयोपशम (निरावरण दशा) या योग-शक्ति से उत्पन्न होता है।

प्रातिभ-ज्ञान विवेक-जनित ज्ञान का पूर्व-रूप है। सूर्योदय से कुछ पूर्व प्रकट होने वाली सूर्य की प्रभा से मनुष्य सब वस्तुओं को देख सकता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के द्वारा योगी सब बातों को जान लेता है।

समन्वय

वस्तुतः जैन ज्ञान-मीमांसा के अनुसार प्रातिभ-ज्ञान अश्रुत-निश्रित-मतिज्ञान का एक प्रकार है, जिसका नाम है—'औत्पत्तिकी बुद्धि।' नन्दी में उसके निम्न लक्षण बतलाए हैं—'पहले अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात अर्थ का तत्काल बुद्धि के उत्पाद-काल में अपने आप सम्यग् निर्णय हो जाता है और उसका परिच्छेद अर्थ के साथ अबाधित योग होता है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है।

मतिज्ञान के दो भेद होते हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। श्रुतनिश्रित के अवग्रह आदि चार भेद व्यावहारिक प्रत्यक्ष में चले जाते हैं। और स्मृति आदि चार भेद परोक्ष में। अश्रुत-निश्रित मति के चार भेद—औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय का समावेश किसी प्रमााण के अन्तर्गत किया हुआ नहीं मिलता।

जिनभद्रगतिण ने बुद्धि चतुष्टय में अवग्रह आदि होते हैं, फिर भी वह व्यवहार प्रत्यक्ष से पूर्ण समता नहीं रखता। उसमें पदार्थ का इन्द्रिय से साक्षात् होता है, इसमें नहीं। वह शास्त्रोपदेशजनित संस्कार होता है और यह आत्मा की सहज स्फुरणा। इसलिए यह केवल और श्रुत के बीच का ही होना

चाहिए तथा इसका प्रातिभ के साथ पूर्ण सामंजस्य दीखता है। इसे केवल और श्रुत के बीच का ज्ञान इसलिए मानना चाहिए कि इससे न तो समस्त द्रव्य-पर्यायों का ज्ञान होता है और न इन्द्रिय, लिंग आदि की सहायता तथा शास्त्राभ्यास आदि के निमित्त से उत्पन्न होता है। पहली परम्परा के प्रातिभज्ञान के लक्षण इससे भिन्न नहीं हैं। मानस-प्रत्यक्ष इसी का नामान्तर हो सकता है और जो निश्चित लिंग के द्वारा होने वाला प्रातिभ कहा गया है, वह वास्तव में अनुमान है। जो उसे प्रातिभ मानते हैं, उनकी अपेक्षा उसे प्रातिभ कहकर उसे अनुमान के अनतर्गत किया गया है।

प्रमाता और प्रमाण का भेदाभेद

प्रमाता आत्मा है, वस्तु है। प्रमाण निर्याणक ज्ञान है, आत्मा का गुण है। प्रमेय आत्मा भी है और आत्म-अतिरिक्त पदार्थ भी। प्रमिति प्रमाण का फल है।

गुणी से गुण न अत्यन्त भिन्न होता है और न अत्यन्त अभिन्न किन्तु दोनों भिन्नाभिन्न होते हैं। प्रमाण प्रमाता में ही होता है, इस दृष्टि से इनमें कथंचिद् अभेद है। कर्त्ता और करण के रूप में ये भिन्न हैं—प्रमाता कर्त्ता है और प्रमाण करण। अभेद-दशा में ज्ञाता और ज्ञान का साधन—ये दोनों आत्मा या जीव कहलाते हैं। भेद-कक्षा में आत्मा ज्ञाता कहलाता है और ज्ञान जानने का साधन। ज्ञान आत्मा ही है। आत्मा ज्ञान भी है और ज्ञान-व्यतिरिक्त भी—इस दृष्टि से भी प्रमाता और प्रमाण में भेद है।

प्रमाता और प्रमेय का भेदाभेद

प्रमाता चेतन ही होता है। प्रमेय चेतन और अचेतन दोनों होते हैं। इस दृष्टि से प्रमाता प्रमेय से भिन्न है। ज्ञेय-काल में जो आत्मा प्रमेय बनती है, वही ज्ञानकाल में प्रमाता बन जाती है, इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

प्रमाता चेतन ही होता है। प्रमेय चेतन और अचेतन दोनों होते हैं। इस दृष्टि से प्रमाता प्रमेय से भिन्न है। ज्ञेय-काल में जो आत्मा प्रमेय बनती है, वही ज्ञान-काल में प्रमाता बन जाती है, इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

प्रमाण साधन है और फल साध्य—दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। प्रमाण और फल इन दोनों का अधिकरण एक ही प्रमाता होता है। प्रमाण-रूप में परिणत आत्मा ही फल-रूप में परिणत होती है—इस दृष्टि से ये अभिन्न हैं।

लक्षण

समग्रं वस्तुनो रूपं, प्रमाणेन प्रमीयते।
असंकीर्णं स्वरूपं हि, लक्षणेनावधार्यते॥

अर्थ-सिद्धि के दो साधन हैं—लक्षण और प्रमाण। प्रमाण के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है। लक्षण निश्चित स्वरूप वाली वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करता है। प्रमाण हमारा ज्ञानगत धर्म है, लक्षण वस्तुगत धर्म। यह जगत् अनेक-विध पदार्थों से संकुल है। हमें उनमें से किसी एक की अपेक्षा होती है, तब उसे औरों से पृथक् करने के लिए विशेष-धर्म बताना पड़ता है, वह लक्षण है। लक्षण में लक्ष्य-वस्तु के स्वभाव-धर्म, अवयव अथवा अवस्था का उल्लेख होना चाहिए। इसके द्वारा हम ठीक

लक्ष्य को पकड़ते हैं, इसलिए इसे व्ययछेदक (व्यावर्तक) धर्म कहते हैं। व्यवछेदक धर्म वह होता है जो वस्तु की स्वतंत्र सत्ता (असंकीर्ण व्यवस्था) बतलाए। स्वतंत्र पदार्थ वह होता है, जिसमें एक विशेष गुण (दूसरे पदार्थों में न मिलने वाला गुण) मिले।

स्वभावधर्म-लक्षण

चैतन्य जीव का स्वभाव-धर्म है। वह जीव की स्वतंत्र सत्ता स्थापित करता है, इसलिए वह जीव का गुण है और वह हमें जीव को अजीव से पृथक् समझने में सहायता देता है, इसलिए वह जीव का लक्षण बन जाता है।

अवयव-लक्षण

सास्ना (गलकम्बल) गाय का अवयव विशेष है। वह गाय के ही होता है। दूसरे पशुओं के नहीं होता, इसलिए वह गाय का लक्षण बन जाता है। जो आदमी गाय को नहीं जानता उसे हम 'सास्ना चिन्ह' समझाकर गाय का ज्ञान करा सकते हैं।

अवस्था-लक्षण

दस आदमी जा रहे हैं उनमें से एक आदमी को बुलाना है। जिसे बुलाना है, उसके हाथ में डण्डा है। आवाज हुई—'डण्डेवाले आदमी! आओ।' दस में से एक आ जाता है। इसका कारण उसकी एक विशेष अवस्था है। अवस्था-लक्षण स्थायी नहीं होता। डण्डा हर समय उसके पास नहीं रहता। इसलिए इसे कादाचित्क लक्षण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम अनात्मभूत लक्षण भी है। कुछ समय के लिएभले ही, किन्तु यह वसतु का व्यवछेद करता है, इसलिए इसे लक्षण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। पहले दो प्रकार के लक्षण स्थायी (वस्तुगत) होते हैं, इसलिए उन्हें 'आत्मभूत' कहा जाता है।

लक्षण के दो रूप

विषय के ग्रहण की अपेक्षा से लक्षण के दो रूप बनते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। ताप के द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'ताप' अग्नि का प्रत्यक्ष लक्षण है। धूम के द्वारा अग्नि का परोक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'धूम' अग्नि का परोक्ष लक्षण है।

लक्षण के तीन दोष—लक्षणाभास

किसी वस्तु का लक्षण बनाते समय हमें तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जैसे, लक्षण—

1. श्रेणी के सब पदार्थों में होना चाहिए।
2. श्रेणी के बाहर नहीं होना चाहिए।
3. श्रेणी के लिए असम्भव नहीं होना चाहिए।

लक्षणाभास के उदाहरण

1. 'पशु सींग वाला होता है'—यहां पशु का लक्षण सींग है। यह लक्षण पशु जाति के सब सदस्यों में नहीं मिलता। 'घोड़ा एक पशु है किन्तु उसके सींग नहीं होते, इसलिए यह 'अव्याप्त दोष' है।
2. 'वायु चलने वाली होती है'—इसमें वायु का लक्षण गति है। यह वायु में पूर्ण रूप से मिलता है किन्तु वायु के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं में भी मिलता है। 'घोड़ा वायु नहीं, फिर भी वह चलता है' इसलिए यह 'अतिव्याप्त-दोष' है।
3. पुद्गल (भूत) चैतन्यवान् होता है—यह जड़ पदार्थ का 'असम्भव लक्षण' है। जड़ और चेतन का अत्यन्ताभाव होता है—किसी भी समय जड़ चेतन और चेतन जड़ नहीं बन सकता।

वर्णन और लक्षण में भेद

वस्तु में दो प्रकार के भेद होते हैं—स्वभाव-धर्म और स्वभाव-सिद्ध धर्म। प्राणी ज्ञान वाला होता है—वह प्राणी नामक वस्तु का स्वभाव-धर्म है। प्राणी वह होता है, जो खाता है, पीता है, चलता है—ये उसके स्वभाव-सिद्ध-धर्म है। 'ज्ञान' प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् करता है, इसलिए वह प्राणी का लक्षण है। खाना, पीना, चलना—ये प्राणी के अप्राणी वर्ग से पृथक् नहीं करते। इंजिन भी खाता है, पीता है, चलता है, इसलिए ये प्राणी की लक्षण नहीं बनते, सिर्फ उसका वर्णन करते हैं।

कार्यकारणवाद

असत् का प्रादुर्भाव—यह भी अर्थ-सिद्धि का एक रूप है। न्यायशास्त्र असत् के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया नहीं बताता किन्तु असत् से सत् बनता है या नहीं—इसकी मीमांसा करता है। इसी का नाम कार्यकारणवाद है।

वस्तु का जैसे स्थूल रूप होता है, वैसे ही सूक्ष्म रूप भी होता है। स्थूल रूप को समझने के लिए हम स्थूल सत्य या व्यवहार-दृष्टि को काम में लेते हैं। मिश्री की डली को हम सफेद कहते हैं। यह चीनी से बनती है, यह भी कहते हैं। अब निश्चिय की बात देखिए। निश्चय-दृष्टि के अनुसार उसमें सब रंग हैं। विश्लेषण करते-करते हम यहां तक आ जाते हैं कि वह परमाणुओं से बनी है। ये दोनों दृष्टियां मिल सत्य को पूर्ण बनाती है। जैनदर्शन की भाषा में ये 'निश्चय और व्यवहार नय' कहलाती है। बौद्धदर्शन में इन्हें लोक-संवृत्ति-सत्य और परमार्थ-सत्य कहा जाता है।। शंकराचार्य ने ब्रह्म को परमार्थ-सत्य और प्रपंच को व्यवहार सत्य माना है। प्रो. आइन्स्टीन के अनुसार सत्य के दो रूप किए बिना हम उसे छू ही नहीं सकते।

निश्चय-दृष्टि अभेद-प्रधान होती है, व्यवहार-दृष्टि भेद-प्रधान। निश्चय-दृष्टि के अनुसार जीव शिव है और शिव जीव है। जीव और शिव में कोई भेद नहीं। व्यवहार-दृष्टि कर्म-बद्ध आत्मा को जीव कहती है और कर्म-मुक्त आत्मा को शिव।

कारण-कार्य

प्रत्येक पदार्थ में पल-पल परिणमन होता है। परिणमन से पौर्वापर्य आता है। पहले वाला कारण और पीछे वाला कार्य कहलाता है। यह कारण-कार्य-भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है। परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते हैं। किन्तु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नहीं होता, सिर्फ कार्य-निष्पत्ति काल में ही उनकी अपेक्षा रहती है।

परिणमन के दो पहलू हैं—उत्पाद और नाश। कार्य का उत्पाद होता है और कारण का नाश। कारण ही अपना रूप त्यागकर कार्य को रूप देता है, इसीलिए कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति का नियम है। सत् से सत् पैदा होता है। सत् असत् नहीं बनता और असत् सत् नहीं बनता। जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होगा, वह उसी से होगा, किसी दूसरे से नहीं। और कारण भी जिसे उत्पन्न करता है उसी से होगा, किसी दूसरे से नहीं। एक कारण से एक ही कार्य उत्पन्न होगा। कारण और कार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिए कार्य से कारण का और कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है।

एक कार्य के अनेक कारण और एक कारण से अनेक कार्य बनें यानी बहुत-कारणवाद या बहु-कार्यवाद माना जाए तो कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान नहीं हो सकता।

विविध विचार

कार्य-कारणवाद के बारे में भारतीय दर्शन की अनेक धाराएं हैं—

1. न्याय-वैशेषिक कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनका कार्य-कारणवाद 'आरम्भवाद या असत्-कार्यवाद' कहलाता है।
2. सांख्य कार्य और कारण दोनों को सत् मानते हैं, इसलिए उनकी विचारधारा 'परिणामवाद या सत् कार्यवाद' कहलाती है।
3. वेदान्ती कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनके विचार को विवर्त्तवाद या सत्-कारणवाद' कहा जाता है।
4. बौद्ध असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं, इसे 'प्रतीत्य-समुत्पात' कहा जाता है।

बौद्ध असत् कारण से सत् कार्य मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत् कारण से असत् कार्य मानते हैं। उनके मतानुसार वास्तव में कारण और काय एक-रूप हों, तब दोनों सत् होते हैं। कार्य और कारण को पृथक् माना जाए, तब कारण सत् और आभासित कार्य असत् होता है। इसी का नाम 'विवर्तवाद' है।

1. कार्य और कारण सर्वथा भिन्न नहीं होते। कारण कार्य का ही पूर्व रूप है और कार्य कारण का उत्तर-रूप। असत् कर्मवाद के अनुसार कार्य-कारण एक ही सत्य के दो पहलू न होकर दोनों स्वतंत्र बन जाते हैं। इसलिए यह युक्तिसंगत नहीं।
2. सत्-कार्यवाद भी एकांगी है। कार्य और कारण में अभेद है सही किन्तु वे सर्वथा एक नहीं हैं। पूर्व और उत्तर स्थिति में पूर्ण सामंजस्य नहीं होता।
3. विवर्त्त परिणाम से भिन्न कल्पना उपस्थित करता है। वर्तमान अवस्था त्यागकर रूपान्तरित होना परिणाम है। दूध दही के रूप में परिणत होता है, यह परिणाम है। विवर्त्त अपना रूप त्यागे बिना मिथ्या प्रतीति का कारण बनती है। तत्त्वचिन्तन में 'विवर्त्त' गम्भीर मूल्य उपस्थित नहीं करता। रस्सी में सांप का प्रतिभास होता है, उसका कारण रस्सी नहीं, द्रष्टा की दोषपूर्ण सामग्री है। एक काल में एक व्यक्ति को दोषपूर्ण सामग्री के कारण मिथ्या प्रतीति हो सकती है किन्तु सर्वदा सब व्यक्तियों को मिथ्या प्रतीति नहीं होती।
4. असत् कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं बनती। कार्य किसी शून्य से उत्पन्न नहीं होता। सर्वथा अभूतपूर्व और सर्वथा नया भी उत्पन्न नहीं होता। कारण सर्वथा मिट जाए, उस दशा में कार्य का कोई रूप बनता ही नहीं।

न्याय-वैशेषिक कार्य-कारण का एकान्त भेद स्वीकार करते हैं। सांख्य द्वैतपरक अभेद, वेदान्त अद्वैतपरक अभेद, बौद्ध कार्य-करण का भिन्न काल स्वीकार करते हैं।

जैन-दृष्टि के अनुसार कार्य-कारण रूप में सत् और कार्य रूप में असत् होता है। इसे सत्-असत् कार्यवाद या परिणामि-नित्यत्ववाद कहा जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार कार्य और कारण एक हैं—अभिन्न हैं। काल और अवस्था के भेद से पूर्व और उत्तर रूप में परिवर्तित एक ही वस्तु को निश्चय-दृष्टि भिन्न नहीं मानती। व्यवहार-दृष्टि में कार्य और कारण भिन्न हैं—दो हैं। द्रव्य-दृष्टि से जैन सत्-कार्यवादी है और पर्याय दृष्टि से असत्-कार्यवादी। द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा 'भाव का नाश और अभाव का उत्पाद नहीं होता।' पर्याय-दृष्टि की अपेक्षा—'सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है।

कारण-कार्य जानने की पद्धति

कारण-कार्य का सम्बन्ध जानने की पद्धति को अन्वय-व्यतिरेक पद्धति कहा जाता है। जिसके होने पर ही जो होता है, वह अन्वय है और जिसके बिना जो नहीं होता, वह व्यतिरेक है। ये दोनों जहां मिलें, वहां कार्य-कारण-भाव जाना जाता है।

परिणमन के हेतु

जो परिवर्तन काल और स्वभाव से ही होता है, वह स्वाभाविक या अहेतुक कहलाता है। 'प्रत्येक कार्य कारण का आभारी होता है'—यह तर्क-नियम सामान्यत: सही है किन्तु स्वभाव इसका अपवाद है। इसीलिए उत्पाद के दो रूप बनते हैं—

1. स्व-प्रत्यय-निष्पन्न, वैस्रसिक या स्वापेक्ष परिवर्तन।
2. पर-प्रत्यय-निष्पन्न, प्रायोगिक या परापेक्ष-परिवर्तन।

गौतम—'भगवन्! क्या अस्तित्व अस्तित्वरूप में परिणत होता है? नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है?'

भगवान्—'हां, गौतम! होता है।'

गौतम—'भगवन्! क्या स्वभाव से अस्तित्व अस्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है? क्या स्वभाव से नास्तित्व नास्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है?'

भगवान्—'गौतम! स्वभाव से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप अस्तित्वरूप में, नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है और प्रयोग से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप में और नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है।'

वैभाविक परिवर्तन प्राय: पर-निमित्त से ही होता है। मृद्-द्रव्य का पिण्डरूप अस्तित्व कुम्हार के द्वारा घटरूप अस्तित्व में परिणत होता है। मिट्टी का नास्तित्व तन्तु-समुदय जुलाहे के द्वारा मिट्टी के नास्तित्व कपड़े के रूप में परिणत होता है। ये दोनों परिवर्तन प्रायोगिक हैं। मेघ के पूर्व-रूप पदार्थ स्वयं मेघ के रूप में परिवर्तित होते हैं, यह स्वाभाविक या अकर्तृक परिवर्तन है।

पर-प्रत्यय से होने वाले परिवर्तन में कर्त्ता या प्रयोक्ता की अपेक्षा रहती है, इसलिए वह प्रायोगिक कहलाता है। पदार्थ में अगुरु-लघु (सूक्ष्म-परिवर्तन) होता है, वह पर निमित्त से नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण और पर्यायों का पिण्ड होता है। उसके गुण और शक्तियां इसलिए नहीं बिखरती कि वे प्रतिक्षण अपना परिणमन कर समुदित रहने की क्षमता को बनाए रखती हैं। यदि उनमें स्वाभाविक परिवर्तन की क्षमता न हो तो वे अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती। सांसारिक आत्मा और पुद्‌गल 1त्त से नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण और पर्यायों का पिण्ड होता है। उसके गुण और शक्तियां इसलिए नहीं बिखरती कि वे प्रतिक्षण अपना परिणमन कर समुदित रहने की क्षमता को बनाए रखती हैं। यदि उनमें स्वाभाविक परिवर्तन की क्षमता न हो तो वे अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती। सांसारिक आत्मा और पुद्‌गल—इन दो द्रव्यों में रूपान्तर दशाएं पैदा होती हैं। शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में निरपेक्षवृत्या स्वभाव परिवर्तन ही होता है। मुक्त आत्मा में भी यही होता है। ऐसा कहना चाहिए कि स्व-निमित्त परिवर्तन सब में होता है। नाश की भी यही प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त उसके दो रूप—रूपान्तर और अर्थान्तर जो बनते हैं, उनसे यह मिलता है कि रूपान्तर होने पर भी परिवर्तन की मर्यादा नहीं टूटती। तेजस् परमाणु तिमिर के रूप में परिणत हो जाते हैं—यह रूपान्तर है, पर स्वभाव की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन अपनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है, उससे आगे नहीं। तैजस परमाणु असंख्य या अनन्त रूप पा सकते हैं किन्तु चैतन्य नहीं पा सकते। कारण, वह उनकी मर्यादा या वस्तु-स्वरूप से अत्यन्त या त्रैकालिक भिन्न-गुण है। यही बात अर्थान्तर के लिए समझिए।

दो सरीखी वस्तुएं अलग-अलग थीं, तब तक वे दो थीं। दोनों मिलती हैं, तब एक बन जाती हैं। यह भी अपनी मर्यादा में ही होता है। केव चैतन्यमय या केवल चैतन्यमय पदार्थ हैं नहीं, ऐसा स्पष्ट बोध हो रहा है। यह जगत् चेतन और जड़—इन दो पदार्थों से परिपूर्ण है। चेतन जड़ और जड़

चेतन बन सके तो कोई व्यवस्था नहीं बनती। इसलिए पदार्थ का जो विशेष स्वरूप है वह कभी नष्ट नहीं होता। यही कारण और कार्य के अविच्छिन्न एकत्व की धारा है।

मार्क्स के धर्म परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त में कार्य-कारण का निश्चित नियम नहीं है। वह पदार्थ का परिवर्तन मात्र स्वीकार नहीं करता। उसका सर्वथा नाश और सर्वथा उत्पाद भी स्वीकार करता है। जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा—इसे वह समाज के विकास में भारी रुकावट मानता है। सच तो यह है कि 'जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा'—वाली धारणा का हमें लगभग सब जगह सामना करना पड़ता है और व्यक्तियों और समाज के विकास में भारी रुकावट पड़ती है।'

किन्तु यह आशंका कार्य-कारण के एकांगी रूप को ग्रहण करने का परिणाम है। जो था, है और वैसा ही रहेगा—यह तत्त्व के अस्तित्व या कारण की व्याख्या है। कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या में पदार्थ परिणाम-स्वभाव है। पूर्ववर्ती और परवर्ती में सम्बन्ध हुए बिना कार्य-कारण की स्थिति ही नहीं बनती। परवर्ती पूर्ववर्ती का ऋणी होता है, पूर्ववर्ती परवर्ती में अपना संस्कार छोड़ जाता है। यह शब्दान्तर से 'परिणामी नित्यत्व' का ही स्वीकार है।

प्रश्न बैंक

आप्तमीमांसा

1. तीर्थंकर भी आप्त गुरुत्व का हेतु नहीं इसे समझाइये तथा सम्बन्धित कारिका याद करें।
2. दोषों आवरणों की पूर्ण हानि संभव है।
3. बताइए निर्दोष सर्वज्ञ कौन हो सकता है और किस हेतु से।
4. भावैकान्त मानने में क्या दोष है?
5. अभावैकान्त मानने में क्या दोष हो सकते हैं?
6. एकान्तों की निर्दोष विधि-व्यवस्था पर प्रकाश डालें?
7. अस्तित्व का नास्तित्व धर्म के साथ अविनाभाव बताइए।
8. वस्तु का अर्थ क्रियाकारित्व कब बनता है?
9. धर्म-धर्म में अर्थ भिन्नता और धर्मों की मुख्य गौडता पर विचार किजिए।

जैनदर्शन मनन और मीमांसा

1. न्यायशास्त्र की क्या उपयोगिता है? विस्तार से प्रकाश डालिए।
2. न्यायशास्त्र का उद्‌भव और विकास कैसे हुआ लिखें।
3. प्रमाण व्यवस्था का आगमिक आधार क्या है?
4. प्रमाण के लक्षण और प्रमाण की परिभाषा के क्रमिक विकास को बताइए।
5. अयथार्थ ज्ञान या समारोप को बताइए।
6. प्रत्यक्ष प्रमाण को समझाइए।
7. व्यवहार प्रत्यक्ष को लिखिए।
8. ईहा और तर्क का भेद समझाइए।
9. अनुमान तथा उसके परिवार के बारे में लिखें।
10. आगम प्रमाण को विधिवत समझाइए।
11. जैन न्याय में प्रमाण का समन्वय किस प्रकार किया गया है?

☆☆☆

TEERTHANKER MAHAVEER UNIVERSITY MORADABAD
TMU
Accredited with NAAC A Grade
12-B Status from UGC

Address: N.H.-9, Delhi Road, Moradabad - 244001, Uttar Pradesh
Admission Helpline No. : 1800-270-1490
Contact No. :+ 91 9520 942111
Email : university@tmu.ac.in